

सायणाचार्य विरचिता

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

समालोचनत्मक भूमिकया, हिन्दी—व्याख्यया टिप्पणीभिश्च
संवलितता

व्याख्याकारः

डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय

एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी, भाषा विज्ञान), पी एच. डी., साहित्याचार्य

प्राध्यापक

दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

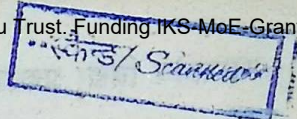
भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी

दिल्ली

(भारत)

सायणाचार्य विरचिता



ऋग्वेदभाष्यभूमिका

समालोचनत्मक भूमिकया, हिन्दी—व्याख्यया टिप्पणीभिश्च
संवलितः

व्याख्याकारः

डॉ० श्रीकान्त पाण्डेय

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी, भाषा विज्ञान), पी एच० डी०, साहित्याचार्य
प्राध्यापक

दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

SCANNED

भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी दिल्ली

भारतीय विद्या प्रकाशन :

(१) पो० वा० नं० ११०८, कचौड़ी गली, वाराणसी-१

(२) १ यू० बी०, जवाहर नगर, बंग्लो रोड, दिल्ली-७

प्राप्ति स्थान :

भारतीय बुक कार्पोरेशन

१,१-यू० बी० जवाहर नगर, बंग्लो रोड दिल्ली-११०००७

संस्करण : 2003

मूल्य : २००

भारतीय विद्या प्रकाशन
कचौड़ी गली, वाराणसी
संशोधित मूल्य 50/-

मुद्रक :

आर. के. ऑफसेट प्रोसेस,

नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

भूमिका

वेद का महत्त्व

यह सुविदित तथ्य है कि विश्ववाङ्मय में जो गरिमा और महत्त्व 'वेद' को प्राप्त है वह अन्य किसी भी ग्रन्थ को नहीं। इसका एक कारण जहाँ यह कि वह हिन्दू जाति के प्रायः सभी धार्मिक सम्प्रदायों का सर्वमान्य मूल उत्स तथा भारत की सनातन अथवा मृत्युञ्जय संस्कृति का मूलधार है, वहीं दूसरा कारण उसका संसार के अद्य यावत् उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ, भाषा के चिरन्तन रूप का साक्षी साहित्य, दर्शन एवं ज्ञान-विज्ञान के अनेकविध वादों, रूपों और धाराओं का प्रवर्तक तथा अनादिकाल से इस विशाल भूखण्ड के कोटि कोटि मानवों की आध्यात्मिक चेतना का उन्मीलक होना भी है। एक ओर, यदि वह सत्यविधाओं का निधान, परब्रह्म का निःश्वसित तथा जगत् के समस्त व्यवहारों का प्रकाशक है तो दूसरी ओर विश्व की प्रसिद्धतम यायावर जाति (आर्य) के जीवन के विविध पहलुओं का जीवन्त चित्र उपस्थित करनेवाला संसार का आदिम ग्रन्थ भी है। कहना न होगा कि वह एक विशाल मानव समुदाय का पूज्य धार्मिक ग्रन्थ होते हुए भी अतीत के भिन्न-भिन्न कालों में विकसित होनेवाले षडङ्गों, शास्त्रों एवं दर्शनों का जन्मदाता ही नहीं कला, शिल्प और विज्ञान की विभिन्न धाराओं के स्पष्ट संकेतक के रूप में भी मान्य है। स्पष्ट है कि यह अद्वितीय गौरव संसार के किसी भी ग्रन्थ को न तो आज तक उपलब्ध ही हुआ है और न भविष्य में उपलब्ध होने की संभावना ही है।

प्राचीनता

इस 'वेद' का उदय कब हुआ ? इस सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। भारतीय धार्मिक मनीषा की दृष्टि में तो वह अपौरुषेय और अनादि है, इसलिए ज्ञात या अज्ञात इतिहास के किसी भी कालखण्ड में उसके उदय या रचना का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। 'एक मानवीय कृति के रूप में उसका मूल्यांकन करनेवाले पाश्चात्य वैदिक गवेषकों तथा उनके अनुयायी नव्य भारतीय विद्वानों की दृष्टि में वेद का उदयकाल प्रागैतिहासिक काल के बीसों हजार वर्ष पूर्व (अविनाश चन्द्र दास 'ऋग्वेदिक इण्डिया') से लेकर ई० पूर्व एक हजार वर्ष तक

निश्चित किया गया है। वैसे सर्वाधिक यथार्थवादी और युक्तिसंगत मत प्रसिद्ध जर्मन विद्वान विन्टर नित्स का है, जिसके अनुसार मूल वैदिक संहिताओं के कुछ मन्त्रों, जिनकी रचना सदियों तक होती रही होगी, का रचनाकाल ई० पू० २००० के आसपास है। कहना न होगा कि उक्त काल को भी मान लेने पर 'वेद' प्राचीनतम ग्रन्थ ठहरता है।

वेद व्याख्यान का प्रारम्भ

इतना तो निश्चित ही है कि अपने सुदीर्घ रचनाकाल संहिताकाल (मूल वैदिक मन्त्रों के शैली प्रवृत्ता और प्रतिपाद्य की दृष्टि से चार संहिताओं के रूप में संकलित तथा विभक्त होने का काल) तथा संहितोत्तर काल (तत्तत् संहिताओं से सम्बद्ध ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का रचनाकाल) में कालगत, देशगत और विषयगत भाषाभेदों के होते हुए भी उनकी भाषा में इतना अन्तर नहीं आ पाया होगा कि तत्कालीन लोग उसके अर्थ को समझते हों। किन्तु कालक्रम से भेद की भाषा का उसके मन्त्रव्यों का जनता के लिए दुर्बोध और दुरूह हो जाना स्वाभाविक था। यास्क के समय तक स्थिति ऐसी हो गई थी कि कौत्स जैसे आचार्य भी परस्परविरोधी, असंगत तथा अस्पष्ट अर्थों के आधार पर 'अनर्थका हि मन्त्राः' की घोषणा करने लग गए थे। यद्यपि यास्क ने कौत्स की वेद नैरर्थ्य प्रतिपादक युक्तियों का तर्कसंगत एवं मुहताड़ उत्तर दिया है, किन्तु वेद के अर्थ को जानने के लिए उन्होंने भी 'पारोवर्यविद्' वेद वेत्ताओं के लिए 'भूयोविद्य' होना आवश्यक बताया है^१। उन्होंने यह भी बतलाया है कि उनके कुछ पूर्व ही मन्त्र अस्पष्ट हो चले थे। फलतः उन्हें सरलतापूर्वक ग्रहण करने के लिए (बिल्मग्रहणाय) अवरो ने निघण्टु तथा अन्य वेदाङ्गों का कथन किया^२। यास्क के इस

१. 'यया जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु वेदितृषु भूयो-विद्यः प्रशस्यो भवति'। — निरुक्त १।५

२. 'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्यग्रहणायेमं ग्रन्थं समाप्तिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च'। — निरुक्त १।६

साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालक्रम से वृद्धिगत होती हुई वैदिकमन्त्रों की अर्थगत दुरूहता की ओर तत्कालीन कतिपय विद्वानों का ध्यान जा चुका था और भूयोविद्यता के आधार पर उसके निराकरण का सफल असफल प्रयास किया जाने लगा था। इन्हीं प्रयासों की पृष्ठभूमि में वैदिक व्याख्यानों का जन्म हुआ समझना चाहिए।

जैसा कि आगामी पृष्ठों में हम देखेंगे, सायण के वैदिक भाष्यों में, तत्पूर्व वैदिक वाङ्मय के इन व्याख्यात्मक प्रयासों की पूर्णता दृष्टिगत होती है और सच तो यह है कि सायण ने अपनी व्याख्याओं को इतने उच्चतम धरातल पर स्थापित किया कि वैदिक अर्थबोध के लिए वे एकमात्र साधन समझी जाने लगीं, क्योंकि सायण का वैदिक व्याख्यान परम्परा की पृष्ठभूमि में हुआ है, इसलिए उसके व्याख्यानों तक के वैदिक व्याख्यानों के विकासक्रम को स्पष्टरूप में समझना तथा उसके सम्यक् मूल्यांकन के लिए संक्षेप में, तत्पूर्व वैदिक व्याख्यान परम्परा का यहाँ परिचय दे देना अनुचित न होगा।

सायणपूर्व वैदिक व्याख्यान

सायणपूर्व वैदिक व्याख्यानों को सरलता से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. स्वयं वैदिक वाङ्मय में किया गया व्याख्यान; २. 'निष्कृत' का व्याख्यान और ३. परवर्तीकाल में अलग-अलग वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य के रूप में लिखा गया व्याख्यान। इन्हें स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) वैदिक वाङ्मयीय व्याख्यान—वैदिकमन्त्रों के संहिता के रूप में आने के साथ ही कतिपय दुरूह, किंवा अस्पष्टार्थक वैदिक शब्दों को समझाने की प्रवृत्ति स्वयं संहिताओं में ही दृष्टिगत होने लगती है। जब एक संहिता या शाखा के कुछ शब्दों वाक्यों या वाक्यांशों को दूसरी संहिताओं या शाखाओं में मिलते-जुलते

कुछ दूसरे ही शब्दों वाक्यों या वाक्यांशों में प्रस्तुत किया जाता है तो उसका इसके अतिरिक्त और कोई तात्पर्य नहीं प्रतीत होता कि परवर्ती शाखाओं या संहिताओं में स्वपूर्ववर्ती शाखा या संहिता के दुरूह शब्दों आदि को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। 'यजुर्वेद' (१।१८) के 'भ्रातृव्यस्य वधाय' के स्थान पर 'काण्वसंहिता' (१।६।२।३) में 'द्विषतो वधाय' अथवा 'ऋग्वेद' (१०।९।२) के 'अमृतत्वस्येशानः' के स्थान पर 'अथर्ववेद' (१९।६।४) के 'अमृतत्वस्येश्वरः' के प्रयोग को इसी प्रकार के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति को वैदिकव्याख्यान का प्रारम्भिक प्रयास कहा जाना चाहिए। संभव है कुछ व्यक्ति इस प्रयास में व्याख्यात्व का दर्शन करने में असमर्थ रहें, किन्तु इसी युग में 'ऋग्वेद' के संहिता पाठ का शौनक के द्वारा जो पद पाठ प्रस्तुत किया गया, उसे निश्चित रूप से वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की दिशा में बढ़ाया गया कदम कहा ही जाना चाहिए, क्योंकि संहितापाठ में पदों की सीमा और स्वरूपसम्बन्धी जिन अनिश्चयों के कारण अर्थबोध में कठिनाई उपस्थित होती थी, उनका शौनक ने पदपाठ में अपनी दृष्टि से निराकरण करने की चेष्टा की है। पदों की सीमा और स्वरूप को स्पष्ट करने के साथ ही उन्होंने उनको अलग करने के लिए जो युक्तियाँ प्रदर्शित की उनका भी महत्त्व है। आगे चलकर अन्य पदकारों ने भी शौनक का अनुसरण कर अपने-अपने पदपाठों के द्वारा अन्य वेदों के अर्थों को स्पष्ट करने का प्रयास किया, यह तथ्य ही स्पष्ट कर देता है कि उस युग में शौनक के पदपाठ के अर्थ को समझने की दृष्टि से क्या महत्त्व था ?

इसी सन्दर्भ में हमें ब्राह्मणों और आरण्यकों के भी महत्त्व को हृदयङ्गम कर लेना चाहिए। अब तक के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो चुका है कि उक्त दोनों ही प्रकार के ग्रंथ, जिन्हें सामान्यतः 'ब्राह्मण' के नाम से अभिहित किया जाता है, वैदिक संहिताओं के यज्ञपरक व्याख्यान मात्र हैं। वेदों के कई अनसुलझे किंवा रहस्यमय अर्थों का ज्ञान इन्हीं ग्रन्थों की सहायता से संभव हो सका है। वेंकटमाधव जैसे प्रसिद्ध वैदिक भाष्यकार का यह कथन कि निरुक्त और 'व्याकरण' में कृत परिश्रम लोग तो संहिता के केवल चौथाई भाग को ही समझ पाते हैं, उसके शेष तीन चौथाई भाग का ज्ञान तो उन वृद्धों को ही हो पाता है,

जिन्होंने ब्राह्मणों के अर्थों का विवेचन किया है^१ । वेदार्थ की दृष्टि से ब्राह्मणों के महत्त्व को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है । वैदिक शब्दों के निर्वचन का प्रारम्भ भी हम यही देखते हैं, जिनके लिए आगे चलकर 'निरुक्त' की रचना की गई ।

(२) निरुक्त का व्याख्यान—इस प्रकार, यद्यपि, स्वयं वैदिक संहिताओं, पदपाठों एवं ब्राह्मणों में वैदिक मन्त्रों के व्याख्यान का विकास होता हुआ दृष्टिगत होता है, तथापि कुल मिलाकर, इस सबको वैदिक व्याख्यान का प्रथम चरण ही कहा जा सकता है । इसमें वैदिकमन्त्रों के प्रत्येक शब्दों के अर्थ को समझने समझाने का कोई विशेष प्रयास दृष्टिगत नहीं होता । इस दिशा में इस प्रकार का विशेष प्रयास हुआ निरुक्त नामक ग्रन्थ के द्वारा जो वैदिक शब्दों के निर्वचन के महान् उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुआ था तथा जो वेदाध्ययन में अतीव उपयोगी होने के कारण कालान्तर में महत्त्वपूर्ण वेदाङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । यास्क का यह ग्रन्थ अर्थों को लक्ष्य करके शब्दों के एक से अधिक निर्वचन करता है कहीं-कहीं 'इति ह विज्ञायते' जैसे वाक्यों के द्वारा, विभिन्न ब्राह्मणवाक्यों के द्वारा अपने मन्तव्य की पुष्टि करता है और पूरे के पूरे वैदिकमन्त्रों को उदाहृत कर उनकी (आवश्यकता न होने पर भी) व्याख्या प्रस्तुत करता है । इस प्रकार

१. येऽज्ञाता ये च सन्दिग्धास्तेषां वृद्धेषु निर्णयः ।

ऐतरेकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम् ॥

तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्येते ॥

×

×

×

अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः ।

शब्दरीति विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि ॥

संहितायांस्तुरायांशं विजानन्त्यधुनातनाः ।

निरुक्तव्याकरणोरासीद्येषां परिश्रमः ॥

—वैकटमाधवकृत 'ऋग्भाष्य' की भूमिका (आचार्य बलदेव उपाध्याय 'आचार्य सायण और माधव' पृ० २ पर उद्धृत है :

निरुक्त में वेद के लगभग १५०० मन्त्रों की व्याख्या की गयी मिलती है। इस सबको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्तकार का उद्देश्य केवल पदों का निर्वचन करना ही न था, अपितु यह बताना भी था कि वैदिक मन्त्रों की व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिए। कहना न होगा कि उन्हें अपने उद्देश्य में महान् सफलता प्राप्त हुई। परवर्ती भारतीय व्याख्याकार उनके बताए मार्ग पर ही चले हैं। इसे वैदिक व्याख्यान का दूसरा चरण कहना चाहिए।

(३) स्वतन्त्र भाष्यरूप व्याख्यान ग्रन्थ—यास्क ने अपने निरुक्त में किसी वेदविशेष की व्याख्या न कर वैदिक मन्त्रों की व्याख्या पद्धति का निदर्शन ही प्रस्तुत किया था। उनके बाद उनकी ही पद्धति पर अलग-अलग वैदिकग्रन्थों की व्याख्या का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इस प्रकार के व्याख्याग्रन्थ यास्क के बहुत बाद से मिलने प्रारम्भ होते हैं, किन्तु उनकी शैली और व्याख्या के ढंग को देखकर यह अनुमान होता है कि उनके पहले भी इस प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए होंगे, यद्यपि वे इस समय उपलब्ध नहीं हैं। अस्तु आचार्य सायण से पूर्व की इस श्रेणी की जो वैदिक व्याख्याएँ मिलती हैं, उनकी संख्या पर्याप्त है और वेदों के क्रम के अनुसार उनका संक्षिप्त उल्लेख हम इस प्रकार कर सकते हैं—

ऋग्वेद की व्याख्याएँ और व्याख्याकार

वेदों में ऋग्वेद का विशिष्ट महत्त्व है, इस कारण उसकी ओर अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक व्याख्याकार झुके हैं। ऋग्वेद के सर्वाधिक उपलब्ध प्राचीन व्याख्याकार माधवभट्ट का 'माधवीय भाष्य' का अभी तक केवल कुछ ही अंश प्रकाशित हो पाया है। सप्तम शतक में उत्पन्न होनेवाले तथा निरुक्त के प्रसिद्ध व्याख्याकार स्कन्दस्वामी ने नारायण और उद्गीथ नामक विद्वानों की सहायता से ऋग्वेद का भाष्य लिखा है। तेरहवीं शताब्दी के वैकटमाधव ने ऋग्वेद की जो व्याख्या लिखी है, वह है तो पूरे ग्रन्थ पर किन्तु इतनी स्वल्पाक्षर है कि उसे भाष्य नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद के अन्य व्याख्याकारों में आनन्दतीर्थ और आत्मानन्द का भी नाम आता है, जिन्होंने कुछ ही सूक्तों पर भाष्य लिखे हैं।

इसी प्रकार ऋग्वेद से सम्बन्धित 'ऐतरेय ब्राह्मण' पर गोविन्दस्वामी और षड्गुरु-शिष्य के महत्वपूर्ण व्याख्यान मिलते हैं ।

यजुर्वेद की व्याख्याएँ और व्याख्याकार

यजुर्वेद की प्रधान संहिता तैत्तिरीय संहिता के ऊपर सायण से पहले कई विद्वानों ने भाष्यों की रचना की, ऐसा परवर्ती ग्रंथों के उल्लेख से प्रतीत होता है । ऐसे विद्वानों में कुण्डिन, भवस्वामी, गुहदेव और क्षर हैं । इस समय इस संहिता के सायण पूर्वकालिक भाष्यकारों में प्रसिद्धतम भट्ट भास्कर मिश्र का 'ज्ञानयज्ञ' नामक प्रसिद्ध भाष्य मिलता है । इसी प्रकार 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' पर भवस्वामी और भट्टभास्कर के भाष्य मिलते हैं ।

शुक्ल यजुर्वेद के ऊपर उव्वट और महीधर, हलायुध के प्रख्यात भाष्य मिलते हैं ।

सामवेद की व्याख्याएँ एवं व्याख्याकार

सायण पूर्व सामभाष्यकारों में माधव का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । इनके भाष्य का नाम 'सामविवरण' है और वह पूरे ग्रन्थ पर मिलता है । अन्य भाष्यकारों में भारतस्वामी तथा गुण विष्णु के नाम उल्लेखनीय हैं । इसी प्रकार जयस्वामी ने सामवेद के 'ताण्ड्य ब्राह्मण' पर, गुण विष्णु ने 'मंत्र ब्राह्मण' पर, भास्कर मिश्र ने 'आर्षेय ब्राह्मण' पर तथा भारत स्वामी ने 'सामविधान' पर अपने-अपने भाष्यों की रचना की है ।

अथर्ववेद

यह आश्चर्य का ही विषय है कि जहाँ अन्य वेदों की अनेकों व्याख्याएँ विद्यमान हैं, वहाँ अथर्ववेद की सायणपूर्वकालिक एक भी व्याख्या उपलब्ध नहीं है । सायण ने भी ऐसे किसी व्याख्या ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है । संभव है, अथर्ववेद की कुछ व्याख्याएँ रही हों, किन्तु अप्रचलन के कारण उनका विलोप हो गया हो । इस प्रकार सायणपूर्वकालिक वैदिक व्याख्यान साहित्य का एक विहंगावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संहिताकाल की संक्षिप्त ऋग्व्याख्या विकसित होकर भाष्य का रूप धारण कर चुकी थी तथा अथर्ववेद

और उसके ब्राह्मणों को छोड़कर वैदिकवाङ्मय के प्रायः सभी ग्रन्थ एक या अनेक व्याख्याओं से मण्डित हो चुके थे। इनमें से कुछ व्याख्याएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण भी थीं और उनका उल्लेख सायण ने भी आदर के साथ किया है। ऐसी स्थिति में आचार्य सायण ने वैदिक भण्डों का उपक्रम क्यों किया ? यह एक गम्भीर प्रश्न है, जिसका उत्तर मिलना चाहिए।

मेरी विनीत सम्मति में सायण के वैदिक व्याख्यानों के उपक्रम की पृष्ठभूमि में निम्नलिखित कारण थे—

(१) सायण पूर्वकालिक भाष्यों में एकरूपता का अभाव था। प्रत्येक विद्वान का अपना दृष्टिकोण था, जो उसकी व्याख्या में प्रतिबिम्बित रहा। फलतः कोई व्याख्या अधियज्ञपरक थी या अधिदैवपरक और कोई अध्यात्मपरक। ऐसी स्थिति में वेद का वास्तविक अर्थ क्या है, यह जानना विशेषज्ञों के लिए भी कठिन हो सकता था।

(२) अधिकांश व्याख्याएँ अधूरी थीं। ऐसी स्थिति में वे समस्त वैदिक-वाङ्मय तो दूर रहा, उसके एक पूरे ग्रन्थ के अर्थबोध में सहायक नहीं थीं।

(३) भाष्य कही जानेवाली ऐसी बहुत सी व्याख्याएँ इतनी स्वल्पाक्षर थीं कि उनसे मन्त्र का सामान्य आशयमात्र ही स्पष्ट होता था। वेद जैसे दुरुह ग्रन्थ के अर्थबोध के लिए पद-निरुक्ति, व्याकरण और ब्राह्मण आदि पारम्परिक रहस्यों के उद्धाटक ग्रन्थों के उदाहरणों के द्वारा स्वमन्तव्य की पुष्टि आदि जो अत्यावश्यक तथ्य थे, उनका उनमें ऐकान्तिक अभाव था। ऐसी स्थिति में वे एक विद्वान की जिज्ञासा का समुचित समाधान करने में नितान्त अक्षम थीं।

स्पष्ट है कि समस्त वैदिक वाङ्मय के लिए एक ऐसी व्याख्या की आवश्यकता थी, जिसमें अर्थ की दृष्टि से एकरूपता हो, जो युग की आवश्यकता को पूरा करती हो तथा जो विद्वानों की जिज्ञासाओं का समाधान करने के पश्चात् वैदिक-मन्त्रों के वास्तविक सन्दर्भ और परम्परा की पृष्ठभूमि में सरलता के साथ अर्थ का बोध कराने की सामर्थ्य रखती हो। इस आवश्यकता की पूर्ति सायण के वैदिक व्याख्यानों ने की।

सायण और उनकी कृतियाँ

व्यक्तित्व :

वैदिकवाङ्मय तथा हिन्दू धर्म के उद्धार की दृष्टि से ईसा की चौदहवीं सदी का भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसमें वेदों के महान् भाष्यकार अथवा अलौकिक व्यक्तित्व और प्रतिभा के स्वामी महामनीषी आचार्य सायण का जन्म हुआ। डॉ० औफ्रेक्ट के अनुसार उनकी मृत्यु ७२ वर्ष की अवस्था में ई० सन् १३८७ में हुई थी। इस प्रकार सायण का जन्म ई० सन् १३१५ में हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। इनके पिता का नाम मायण और माता का नाम श्रीमती था। ये अपने माता-पिता के तीन पुत्रों में दूसरे पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम माधव विद्यारण्य था, जो वैदिक वाङ्मय के साथ साथ व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा तथा समस्त संस्कृत साहित्य के महान् पण्डित थे। इनके छोटे भाई का नाम भोगनाथ था, जो अच्छे कवि रहे। 'अलङ्कार सुधानिधि' के अनुसार सायण के तीन पुत्र थे, जिनमें कम्पण संगीतशास्त्र के, मायण गद्य-पद्य रचना रूप साहित्य के और शिङ्गण वेदों के विद्वान् थे। स्वयं सायण ने व्याकरण वेदान्त, मीमांसा, साहित्य और समस्त वैदिक वाङ्मय का गम्भीर अध्ययन किया था, जैसा कि हम अभी उनके ग्रन्थों का परिचय देते हुए देखेंगे। वे राजनीति शास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित थे, इस बात को उन्होंने ३१ वर्ष की छोटी-सी अवस्था में विजयनगरम् साम्राज्य के माहामन्त्रित्व के भार को सफलतापूर्वक वहन कर सिद्ध कर दिया है^१। इतना ही नहीं, उन्होंने विजयनगरम् साम्राज्य के प्रबन्धक के रूप में अनेक युद्धों में अपनी सेना का सफल नेतृत्व किया तथा अनेकशः शत्रुओं पराजित किया^२।

१. एपिग्राफिका कर्नाटिका, भाग ९ पृ० १०४।

२. सायण की वीरता का चित्रण 'अलङ्कार सुधानिधि' की निम्नस्थ पंक्तियों में देखा जा सकता है—

जगदवीरस्य जागति कृपाणः सायणप्रभोः ।

किमित्येते वृथाटोपा गर्जन्ति परिपन्थिनः ॥

दिष्ट्या दैर्घिकभाव-संभृतमहासंपद्दिशेषोदयं ।

जित्वा चम्पनरेन्द्रमूर्जितयशः प्रत्यागतः सायणः ॥^३

सायण के जीवन के आरम्भिक तीस वर्षों का इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता, किन्तु अपनी वय के ३१वें वर्ष में वे विजयनगर में महाराज कम्पण के प्रधान मन्त्री के रूप में दृष्टिगत होते हैं। नौ वर्ष तक (सन् १९४६-५५) उनके प्रधान मन्त्री रहने के पश्चात्, सायण ने, (हरिहर की मृत्यु के अनन्तर) उनके एकमात्र पुत्र संगम को सभी प्रकार से शिक्षा देते हुए उसके राज्य का कई वर्ष तक प्रबन्ध किया। इसी काल में सायण को अनेक युद्ध करने पड़े थे। १३६३ ई० से १३६९ तक उन्होंने महाराज बुक्क के प्रधानमन्त्रित्व के भार को संभाला। यह १६ वर्ष का समय उनके जीवन का स्वर्णकाल था, क्योंकि इसी काल में उन्होंने वैदिकभाष्यों की रचना की। सन् १३७९ में महाराज बुक्क के दिवंगत हो जाने के पश्चात् सायण ने उनके पुत्र हरिहर (द्वितीय) के प्रधानमन्त्रित्व को लगभग छह वर्षों तक सुशोभित किया। सन् १९८५ में ७२ वर्ष में उन्होंने अपनी ऐहिक लीला को संवरण किया।

इस प्रकार सायण एक ऐसा व्यक्तित्व था, जो समस्त पारिवारिक सुखों से सम्पन्न था, जिसमें समुद्र जैसी अगाध विद्वत्ता तथा हिमालय जैसी उत्तुङ्ग वीरता विद्यमान थी जिसका हृदय एक ओर कविता की संगीत लहरी से सम्बन्धित होता था तो दूसरी ओर मीमांसा और व्याकरण जैसे शुष्क शास्त्रों के अध्ययन से सघन-गम्भीर था। समस्त वैदिक वाङ्मय उसके लिए हस्तामलकवत् था। ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व के स्वामी आचार्य सायण ने महान् राज्य के शासनसूत्र को धारण करते हुए भी समस्त वैदिक वाङ्मय की विशालकाय अथच गम्भीर भाष्यों से मण्डित किया, यह तथ्य विश्ववाङ्मय के इतिहास में विस्मयजनक होते हुए भी एकान्तिक सत्य से पूर्ण है।

कृतित्व :

जैसा कि हम देख चुके हैं, सायण अपने समय के महान् विद्वानों में अन्यतम थे। अनेक राजाओं के प्रधानमन्त्रित्व के भार को सफलतापूर्वक वहन करते हुए भी उन्होंने जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं वे उनके अलौकिक और उद्भट पाण्डित्य को व्यक्त करती हैं। उनकी समस्त कृतियों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) वैदिकेतर एवं (ख) वैदिक।

(क) वैदिकेतर ग्रन्थ—सायण के वैदिकेतर ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय उनके रचनाकाल के अनुसार इस प्रकार दिया जा सकता है—

१. 'सुभाषित सुधानिधि'—यह सायण की प्रथम रचना प्रतीत होती है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों के सम्बन्ध में समकालीन कवियों के १११८ सुभाषितों (श्लोकों) का संकलन किया गया है।

२. 'प्रायश्चित्त सुधानिधि'—यह सायण की दूसरी रचना है। इसमें धर्मशास्त्र के प्रायश्चित्त विषय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

३. 'आयुर्वेद सुधानिधि'—यह अधूरा ग्रन्थ है। सायण ने आयुर्वेद के सिद्धान्तों को सुबोध शैली में प्रस्तुत किया है। यह उनकी तीसरी रचना है।

४. 'अलंकार सुधानिधि'—यह अधूरा ग्रन्थ सायण के वैदिकेतर ग्रन्थों में अतीव महत्वपूर्ण है। इसमें अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसके उदाहरणों के द्वारा सायण ने अपने जीवन चरित को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह संस्कृत के अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों में अनूठी कृति है।

५. 'माधवीय घातुवृत्ति'—ग्रन्थ के पहले 'माधवीय' शब्द के प्रयोग से यह ग्रन्थ, यद्यपि, माधव विद्यारण्य की रचना प्रतीत होता है, किन्तु है यह सायण का ही ग्रन्थ, ऐसा इसकी पृष्पिका से सिद्ध होता है^१। इसमें पाणिनि के घातुपाठ की, अन्य प्राचीन ग्रन्थकारों के मतों की पृष्ठभूमि में, विपद और प्रौढ़ व्याख्या की गई है।

६. 'पुरुषार्थ सुधानिधि'—इस ग्रन्थ की रचना महाराज बुक्क के उपदेश से, उन्हें व्यास के धर्मादि पुरुषार्थ विषयक उपदेशों को सुनाने के उद्देश्य से की गई है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में व्यास के श्लोकों को संकलित किया गया है। इसका उल्लेख, सायण ने 'ऋग्वेद भाष्यभूमिका' में भी किया है।

१. तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा । आख्यया माधवीयेयं घातुवृत्तिर्विरच्यते ।

७. 'यज्ञतन्त्र सुधानिधिः'—यह सायण की अन्तिम रचनाओं में अत्यन्तम प्रतीत होती है, क्योंकि इसकी रचना के समय सायण हरिहर (द्वितीय) के साम्राज्य धुरन्धर थे^१। जैसा कि नाम से ही विदित होता है, यह अमुद्रित ग्रन्थ यज्ञों के कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखता है।

(ख) वैदिक ग्रन्थ—यहाँ 'वैदिक ग्रन्थ' से तात्पर्य वैदिक वाङ्मय के ऊपर लिखे गए सायण के भाष्यग्रन्थों से है। वैदिक भाष्यों की रचना ही सायण का मुख्य कृतित्व है। यही वह वस्तु है, जिसके लिए वे संसार भर में प्रसिद्ध हैं। सायण के इन भाष्यों में कहीं-कहीं उन्हें 'माधवीय' जैसे विशेषणों से विशिष्ट किया गया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी रचना माधवाचार्य (सायण के ज्येष्ठ भ्राता) ने की है। किन्तु सायण के ग्रन्थों का अनुशीलन यह बताता है, जैसा कि हम अभी 'माधवीय धातुवृत्ति' के सन्दर्भ में देख चुके हैं कि ये सभी ग्रन्थ सायण की ही रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों में 'माधवीय' शब्द का प्रयोग सायण के अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के प्रति श्रद्धातिशय को ही प्रकट करता है। इस श्रद्धातिशय को एक कारण जहाँ उनका नैसर्गिक भाव है, वहाँ दूसरा कारण यह भी है कि इन भाष्यों की रचना का आदेश महाराज बुक्क के द्वारा प्रथमतः माधवाचार्य को ही दिया गया था, किन्तु माधवाचार्य ने सायण की विद्वत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उन्हें ही इन भाष्यों के सम्पादन करने का निर्देश दिलाया^२।

१. 'इति श्री.....हरिमहाराजसकलसाम्राज्यधुरन्धरस्य.....सायणाचार्यस्य'

—'यज्ञतन्त्रसुधानिधि' की पुष्पिका

२. 'तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।

आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥

स प्राह नृपति राजन् ! सायणार्यो ममानुजः।

सर्वं वेत्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ॥

इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः।

अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।

कृपालुः सायणार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥'

—सायण 'तैत्तिरीय संहिता' के भाष्य की उपक्रमणिका

(आचार्य बलदेव उपाध्याय 'आचार्य सायण और माधव' पृ० ९३ से उद्धृत)

इस प्रकार सायण की विद्वत्ता को प्रकट होने का सुअवसर प्राप्त हुआ और इसके लिए सायण का हृदय अपने महान भाई के प्रति कृतज्ञता से भर उठा। यही कृतज्ञता उन्हें उनकी कृतियों की 'माधवीय' जैसे नामों से विशिष्ट करने के लिए बाध्य कर देती है। अस्तु, सायण के वैदिकभाष्यों को, वेदों के क्रम के अनुसार, इस सूची के माध्यम से देखा जा सकता है—

१. 'ऋग्भाष्य' (ऋक्संहिता पर भाष्य)
२. 'तैत्तिरीय भाष्य' (कृष्ण यजुर्वेद की काव्य संहिता पर भाष्य)
३. 'काव्य भाष्य' (शुक्ल यजुर्वेद की काव्य संहिता पर भाष्य)
४. 'स्तमभाष्य' (समावेद संहिता पर भाष्य)
५. 'अथर्वभाष्य' (अथर्वसंहिता पर भाष्य, यह खण्डित रूप में उपलब्ध होता है)

इसके अतिरिक्त सायण ने निम्नलिखित ब्राह्मणों और आरण्यकों पर भी भाष्य लिखे—

- | | |
|-----------------------------|--------------------------------|
| १. 'ऐतरेय ब्राह्मण' | { (ऋग्वेद के ब्राह्मण) |
| २. 'ऐतरेय आरण्यक' | |
| ३. 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' | { (कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण) |
| ४. 'तैत्तिरीय आरण्यक' | |
| ५. 'शतपथ ब्राह्मण' | { (शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण) |
| ६. 'ताण्ड्य ब्राह्मण' | { (समवेद के ब्राह्मण) |
| ७. 'षड्विंश ब्राह्मण' | |
| ८. 'सामविधान ब्राह्मण' | |
| ९. 'आष्वेय ब्राह्मण' | |
| १०. 'देवताध्याय ब्राह्मण' | |
| ११. 'उपनिषद् ब्राह्मण' | |
| १२. 'संहितोपनिषद् ब्राह्मण' | |
| १३. 'वंश ब्राह्मण' | { |

भाष्यों की इस सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सायण ने ५ संहिताओं (यजुर्वेद की दो तथा अन्य वेदों की एक-एक) पर विशालकाय भाष्यों की रचना के साथ ही अथर्ववेद को छोड़कर अन्य सभी वेदों के अधिकांश ब्राह्मणों और आरण्यकों पर भी भाष्य लिखे । जिन ब्राह्मणों और आरण्यकों पर उनके भाष्य नहीं मिलते, उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि मृत्यु के कारण ही सायण उन्हें भाष्य से मण्डित नहीं कर सके । इसका प्रमाण यह है कि 'शतपथभाष्य' उनकी अन्तिम रचना है, जो हरिहर के समय लिखी गयी है तथा उनकी मृत्यु हो जाने के कारण ही सम्भवतः सण्डित है । इनको देखकर, जो दूसरी बात मन में उठती है वह यह है कि सायण ने वैदिक वाङ्मय के केवल कर्मकाण्ड भाग को ही अपनी व्याख्या का विषय बनाया, ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्) को नहीं । इसका कारण संभवतः यह है कि ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा कर्मकाण्डीय भाग अत्यधिक दुरूह था और सायण का लक्ष्य उसकी दुरूहता को ही दूर करना था । संभव है, सायण की वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अत्यधिक श्रद्धा भी इसका कारण रही हो ।

इन भाष्यों के निर्माण में सायण की जो दृष्टि रही है, उसके प्रति हम अभी 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' के सन्दर्भ में विचार करेंगे, किन्तु यदि उसको छोड़ भी दिया जाय तो भी ग्रन्थों का महान् आकार, भाष्यरचना का यह बृहत् आयोजन सायण के बड़े से बड़े आलोचक को भी चकित कर देता है । जिस काम को घुरंघर पण्डितों का समूह भी शताब्दियों में सम्पन्न नहीं कर पाता, उस काम को अकेले सायणाचार्य ने लगभग ३० वर्ष की अवधि में सम्पन्न कर डाला, वह भी अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए, यह तथ्य एक तिलस्म सा आश्चर्यजन्य अवश्य है, किन्तु सत्य है । इतिहास और भाष्यों का अन्तस्स इसका साक्षी है कि ये सभी एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं । जाहिर है कि इस कार्य में उस समय के कुछ महान् विद्वानों की सहायता भी सायण को प्राप्त थी । इस सन्दर्भ में नारायण वाजपेयीजी, नरहरि तथा पण्डरि दीक्षित जैसे विद्वानों के नाम का उल्लेख मिलता है । जो भी हो, अन्य विद्वानों की सहायता

से भी सायण ने ज्ञानयज्ञ के इस वृहद् आयोजन को जो सफलता के साथ सम्पन्न किया, उसके लिए वह संसार में अद्वितीय है, अनुपम है ।

ऋग्वेद भाष्य भूमिका

सायण के संहिताभाष्य उस समय तक के संहिताभाष्यों में, कई दृष्टियों से महान् थे तथा उनका निर्माण एक दृष्टिकोण विशेष से किया गया था । यही कारण है कि सायण ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए, प्रत्येक संहिता-भाष्य के प्रारम्भ में, लम्बी भूमिकाएँ लिखी हैं । इन भूमिकाओं में जहाँ सायण ने तत्तत् भाष्य से सम्बद्ध अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है, वहाँ उपयोगी विषयों की जानकारी भी प्रदान की गई है । इन भूमिकाओं को बिना समझे सायण के भाष्यों के स्वारस्य को नहीं जाना जा सकता । सच तो यह है कि ये भूमिकाएँ वह अंजन हैं, जिनके प्रयोग से हम वेदों के अर्थ को समझने में समर्थ होते हैं । इसी प्रकार के अन्य कारणों से इन भूमिकाओं का वैदिक भाष्य साहित्य में बहुत अधिक महत्व है । इनके महत्व का अनुमान इस एक तथ्य से ही किया जा सकता है कि आधुनिक युग में वेदों के सबसे महान् विद्वान् और प्रसिद्ध समाज सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के नाम से जिस क्रान्तिकारी ग्रन्थ की रचना की है, उसकी पृष्ठभूमि से सायण की यही भूमिकाएँ हैं । इन भूमिकाओं में 'ऋग्वेदभाष्यभूमिका' का अपना विशिष्ट महत्व है । सायण ने इसकी रचना अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण शैली में की है । इसमें

द्रष्टव्य :

(क) 'तैत्तिरीय संहिता' भाष्यीपक्रमणिका के उपर्युक्त उद्धरण से यद्यपि, यह सिद्ध होता है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) की व्याख्या करने के पश्चात् ही सायण वेदार्थ में प्रवृत्त हुए थे । किन्तु इस समय उक्त दोनों शास्त्रों पर उनकी कोई भी व्याख्या नहीं मिलती । संभव है, जिस प्रकार वे ग्रन्थों को माघव का बतलाते हैं, उसी प्रकार माघव के ग्रन्थों को अपना बतलाया हो । माघव के ग्रन्थ उक्त दोनों ही शास्त्रों पर मिलते हैं । यह भी संभावना हो सकती है कि सायण ने उनकी रचना में किसी समय तक सहयोग किया हो ।

(ख) बलदेव उपाध्याय—'आचार्य सायण और माघव' पृ० १०७ ।

स्थान-स्थान पर. मीमांसा के सिद्धान्तों की चर्चा की गई है, जिससे सायण की मीमांसा में अप्रतिहत गति परिलक्षित होती है। सायण की दृष्टि में, ऋग्वेद के ज्ञान प्रवेश करने के लिए, जिन विषयों की आवश्यकता हो सकती है, उन सबका समावेश भूमिका में किया गया है। वैसे तो भाषा और शैली इसकी सुबोध है, फिर भी कहीं-कहीं परम्परागत शास्त्रार्थ शैली का अवलम्बन करने के कारण पर्याप्त जटिलता भी आ गई है। इसमें चर्चित विषयों को संक्षेप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) इसके प्रारम्भ में सायण ने यह प्रश्न उठाया है कि ऋग्वेद के अन्य वेदों की अपेक्षा अर्भ्यहित होने के कारण, 'अर्भ्यहितं पूर्वम्' न्याय के अनुसार सर्वप्रथम उसकी ही व्याख्या की जानी चाहिये थी, किन्तु ऐसा न करके उन्होंने 'यजुर्वेद' की व्याख्या क्यों की (सायण ने यजुर्वेद की व्याख्या ऋग्वेद से पहले की है, इसका संकेत 'ऋग्भाष्य भूमिका' का यह श्लोक देता है—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।

यजुर्वेदोऽथ होत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥

इसका उत्तर देते हुए उन्होंने बताया है कि यजुर्वेद की व्याख्या सबसे पहले इसलिए की है कि वेद के अर्थज्ञान का प्रयोजन यज्ञों का अनुष्ठान है और यज्ञ का अनुष्ठान यजुर्वेद के अभाव में नहीं हो सकता। इसलिए उसकी व्याख्या पहले की जानी चाहिए। अपने इस दृष्टिकोण की पुष्टि में उन्होंने ऋग्वेद के 'ऋचा त्वः' मन्त्र की यास्क्रीय व्याख्या भी उद्धृत की है।

(२) दूसरी समस्या यह उठाई गयी है कि 'वेद' का न तो कोई लक्षण है और न उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण ही है। इस प्रकार जब 'वेद' ही नहीं हैं तो उसके अवान्तर विशेष 'ऋग्वेद' की व्याख्या का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस समस्या का समाधान सायण ने आपस्तम्ब के 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इन वेद लक्षण और श्रुति, स्मृति तथा लोक प्रसिद्धि रूप प्रमाणों के द्वारा किया है (महर्षि दयानन्द तथा अन्य बहुत से आधुनिक व्याख्याता वैदिक वाङ्मय के ब्राह्मण भाग को 'वेद' मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में संहिताएँ ही वेद हैं और ब्राह्मणभाग उनकी व्याख्या)।

(३) इसके पश्चात् इस पुराने विवाद को अत्यन्त प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत किया गया है कि वेद में प्रमाण का 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' यह लक्षण लागू नहीं होता, क्योंकि वैदिकमन्त्र अर्थों की अबोधकता, विपरीतार्थ प्रतिपादकता और सन्दिग्धता आदि दोषों से युक्त हैं। ऐसी स्थिति में उनके व्याख्यान की आवश्यकता ही क्या? व्याख्यान प्रामाणिक वस्तु का किया जाता है, अप्रामाणिक का नहीं। इस विवाद का समाधान सायण ने यास्क के 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' से प्रारम्भ कर जैमिनी के २३ सूत्रों को उद्धृत करते हुए, अत्यन्त प्रौढ़ता के साथ किया है। बीच-बीच में सूत्रों की व्याख्या के प्रसङ्ग में अन्य विषयों की भी चर्चा होती गई है।

(४) अगले विवादास्पद विषय के रूप में यह प्रश्न उठाया गया है कि इस प्रकार मन्त्रभाग को तो प्रमाण माना जा सकता है, किन्तु ब्राह्मणभाग को नहीं, क्योंकि उसके विधि और अर्थवाद इन दोनों ही रूपों में सम्यगनुभवसाधनत्वरूप प्रमाण का लक्षण घटित नहीं होता। सायण ने इसका भी समाधान पूर्व और उत्तर दोनों ही पक्षों से सम्बन्धित जैमिनी के लगभग १६ सूत्रों को उद्धृत कर तथा उनकी मर्मस्पर्शी व्याख्या किया है—'तदेवं.....कृतस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम्'।

(५) इसके पश्चात् समस्या यह कि वेद पुरुषनिर्मित है (पौरुषेय) है। अतः अप्रामाणिक है, को जैमिनी के सूत्रों की व्याख्या के साथ उपस्थित कर उसका समाधान जैमिनी के सूत्रों को ही सिद्धान्तपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके किया गया है और निष्कर्ष के रूप में कहा गया है कि वेद पौरुषेय नहीं है—'तस्मान्नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम्'।

(६) इसके पश्चात् वेद के पूर्वोक्त लक्षण को विचार के लिए पुनः प्रस्तुत किया गया है और शंका की गई है कि मन्त्र और ब्राह्मण का स्वरूप, निर्णीत नहीं है, इसलिए वेद का मन्त्रब्राह्मणकत्व रूप लक्षण उचित नहीं है। इसके उत्तर में सायण ने माधवाचार्य की 'जैमिनि न्यायमाला' को उद्धृत करते हुए यह सिद्ध किया है कि 'अभियुक्त जिसे मन्त्र कहें वही मन्त्र है' तथा उससे

भिन्न ब्राह्मण हैं। इस प्रकार दोनों के स्वरूप के निर्णीत होने के कारण वेद का पूर्वोक्त लक्षण उचित है। इसी सन्दर्भ में सायण ने 'ब्राह्मण' की परम्परागत विशेषताओं का आकलन करते तथा उसके लक्षण की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि मन्त्ररूप वेदभाग से भिन्न भाग ही ब्राह्मण है।

(७) इसके अनन्तर आचार्य सायण ने यह प्रश्न उठाया है कि वेदों में कुछ भाग ऐसा भी तो पाया जाता है, जिसे न तो मन्त्र कह सकते हैं और न ब्राह्मण ही, जैसे इतिहास पुराण, कल्प गाथा और नाराशसी। अतः ब्राह्मण के दो ही भाग न होकर अनेक भाग हैं। इसका समाधान उन्होंने यह कह कर किया है कि विप्र परिव्राजक न्याय से ये सब ब्राह्मण आदि के ही पृथक्-पृथक् अभिधान हैं— 'विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथग्भिधानात्'। इसी सन्दर्भ में उन्होंने ऋक्, यजुः और साम के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए वेदत्रयी के पारस्परिक अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। किन्तु, यह एक आश्चर्य की ही बात है कि उन्होंने वेदचतुष्टय के अवान्तर विशेष 'अथर्ववेद' के सम्बन्ध में, यहाँ कुछ भी नहीं कहा है।

(८) इसके पश्चात् सायण ने यह प्रतिपादन करते हुए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रज्ञा के अनुसार सभी वेदों अथवा किसी एक का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। इस बात को सिद्ध किया है कि वेद का यह अध्ययन काम्य न होकर नित्य है, क्योंकि अध्ययन न करने से उसका अधःपतन हो जाता है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने 'पुरुषार्थानुशासन' नामक ग्रन्थ के सूत्रों को उद्धृत करते हुए यह भी सिद्ध किया है कि वेदाध्ययन का प्रयोजन दृष्ट है और वह है अक्षरप्राप्ति और संस्कार। 'ऋगभाष्यभूमिका' यह अंश कुछ जटिल है।

(९) आगे चलकर उन्होंने यह बताया है कि वेद के अध्ययन के समान उसका ज्ञान भी विहित है। 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' के द्वारा दोनों का विधान किया गया है। इसी प्रसङ्ग में यास्क के स्थाणुरयंभार-हारः' इत्यादि पद्यों की गम्भीर व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्होंने ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा की है तथा निष्कर्षरूप में प्रतिपादित किया है कि वेद के अर्थज्ञान के लिए उसकी व्याख्या की जानी चाहिए।

(१०) इसके अनन्तर वेद के अध्ययन में उपयोगी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छह वेदाङ्गों के स्वरूप और इनके विषयों का परिचय कराते हुए उन्होंने यह बताया है कि वेद के अध्ययन में ये किसी प्रकार और क्यों उपयोगी होते हैं। इसके साथ ही पुराण और इतिहास आदि की भी वेदाध्ययन में उपयोगिता सिद्ध करते हुए उन्होंने यास्क के उद्धरणों के द्वारा वेद-विद्या के अधिकारी आदि का भी विवेचन किया है—

‘ऋग्भाष्यभूमिका’ में चर्चित विषयों के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सायण ने उसका आधार व्यापक बनाया है और वेदाध्ययन के लिए आवश्यक सभी बातों का उसमें समावेश करने का प्रयास किया है। इससे वेद के सम्बन्ध में सायण के निम्नलिखित विचारों का ज्ञान होता है—

(१) सायण की दृष्टि में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वेद कहलाते हैं। (इस सम्बन्ध में उन्होंने केवल आपस्तम्बको उद्धृत किया है तथा यह प्रायः भुला दिया है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के यज्ञपरक भाष्य मात्र है। दोनों के लिए क्रमशः ‘वेद’ और ‘ब्राह्मण’ शब्दों का प्रयोग ही यह सिद्ध कर देता है कि दोनों एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं, अतएव उन्हें ‘वेद’ इस एक सामान्य नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता।

(२) उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ही उनके विचारमें वेद के सामान्यतः दो भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्र से तात्पर्य संहिताओं में संकलित वैदिक वाक्यों से है तथा उनसे भिन्न को ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण भाग में इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशसी ये सभी आते हैं। ये दोनों ही मास्य प्रमाण हैं।

(३) सायण की मान्यता है कि मन्त्रों में केवल यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि यज्ञ के सम्पादक आचार्य ऋत्विक्—होता, अश्वयु, उद्गाता और ब्रह्मा के रूप में चार प्रकार के हैं, इसलिए उन-उन के कर्मों से सम्बद्ध मन्त्रों की क्रमशः चार संहिता हैं—ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता और अथर्वसंहिता (उन्होंने ऋक्, यजुष् और साम के लक्षण तो बताएँ हैं, किन्तु अथर्व का नहीं)।

(४) समस्त वेद अपौरुषेय है, इसलिए उसमें मानव के अल्पज्ञात्व आदि दोष नहीं हैं।

(५) द्विजातिमात्र के लिए वेद का अध्ययन आवश्यक है।

(६) निरुक्त और व्याकरण आदि छह वेदाङ्ग हैं। वेद के दुसरे अर्थों का ज्ञान इन वेदाङ्गों और ब्राह्मणादि पारम्परिक ग्रन्थों के आधार पर हो सकता है।

(७) इतिहास और पुराण के द्वारा वेद का समुपबृंहण होता है—‘इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्’। इसके अतिरिक्त वे वेदों में इतिहास भी मानते प्रतीत होते हैं, क्योंकि इतिहासबोधक शब्दों की व्याख्या उन्होंने ऐतिहासिकों के ही समान की है न कि सर्वत्र अध्यात्मिक अर्थ करनेवाले स्वामी दयानन्द आदि के समान।

स्पष्ट है कि सायण की वेदों के सम्बन्ध में एक विशिष्ट मान्यता थी और अपने समस्त भाष्यों में उसने अपनी उस मान्यता को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। वैसे वह कहीं-कहीं मन्त्रों के आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ भी करता है, किन्तु उसकी विशिष्ट अभिरुचि उन्हें यज्ञपरक मानने में है। वह पुरातन याज्ञिक विद्वानों की इस धारणा को सही मानता है कि वेदों की प्रवृत्ति यज्ञों के निमित्त हुई है—‘वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः’। उसने ‘ऋगभाष्यभूमिका’ तथा अन्यत्र (भाष्यों में) जिस प्रकार जैमिनि के सूत्रों का उपयोग किया है, उससे भी उसका याज्ञिकत्व ही स्पष्ट होता है। सच तो यह है, कि उसने अपने प्रचण्ड पाण्डित्य का उपयोग वेदों की यज्ञपरकता सिद्ध करने के लिए ही किया है, यद्यपि इसके लिए उसे कहीं कहीं दूर की कौड़ी लानी पड़ी है। शब्दों, वाक्यों और वाक्यांशों का अध्याहार करना पड़ा है तथा अनावश्यक अर्थों की खींचतान करनी पड़ी है। इसलिए यदि कुछ लोग उसे याज्ञिक भाष्यकार कहते हैं तो वे सत्य से दूर नहीं हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वैदिक आर्यों के जीवन में यज्ञ का अपना विशिष्ट महत्व था किन्तु यह ऐसा नहीं रहा होगा कि उनकी रचनाओं का एकमात्र प्रतिप्राप्त बन जाए। इसलिए सायण, जो एतत्सम्बन्धी धारणा एकाङ्गी और अतिवादि-सी लगती है, विशेषकर उस

स्थिति में जबकि उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा मन्त्रों के यज्ञपरक अर्थ से भी भिन्न अर्थ मानती रही है^१ ।

किन्तु इतना होने पर भी सायण के भाष्य परम्परा की दृढ़ आधारभित्ति और गहन चिन्तन पर आश्रित हैं, इसलिए उनका कोई विकल्प नहीं है। के अपने आप में अद्वितीय हैं। आज जो वैदिक अध्ययन जीवित है तो उसका बहुत कुछ श्रेय सायण के इन भाष्यों को ही है। इस तथ्य को दबी जवान से वे लोग भी स्वीकार करते हैं, जिन्होंने कभी सायण के बहिष्कार का आंदोलन चलाया था। वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ तक परम्परा के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की पहुँच विश्वसनीय नहीं हो सकती। यह सौभाग्य और गौरव की बात है कि सायण ने इस तथ्य को स्वीकार ही नहीं, दृढ़ता से उनका पालन भी किया है। आज आवश्यकता इस बात की नहीं है कि हम यह देखें कि सायण के भाष्यों में क्या-कुछ नहीं है, अपितु यह है उसकी मानव सुलभ त्रुटियों का परिहार करते हुए उसके बताए हुए मार्ग पर चलकर वैदिक अर्थ को प्रकार के अर्थों को करने का स्पष्ट निदेश दिया है। और अधिक पूर्ण तथा विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया जाए। इस दिशा में उसके भाष्य आलोकस्तम्भ का कार्य करेंगे, इसमें संदेह नहीं।

सायण ने जैसा कि हम देख चुके हैं, अपनी वेद सम्बन्धी इन धारणाओं और मान्यताओं का स्वलिखित तत्तत् भाष्यों के प्रारम्भ की भूमिकाओं में स्पष्ट रूप से अंकित है। उनकी विचारधारा तथा तत्तद् वेद और वेदभाष्यों के लिए अत्युपयोगी सामग्री के ज्ञान के लिए इन भूमिकाओं का अत्यन्त महत्त्व है। प्रस्तुत 'ऋग्वेदभाष्यभूमिका' भी उन्हीं भूमिकाओं में अन्यतम है। इसमें परम्परा की पृष्ठभूमि में ऋग्वेद के लिए सायणभित्त आवश्यक बातों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है, जैसा कि आगामी पृष्ठों में देखा जा सकेगा। व्याख्या में

१. इस सम्बन्ध में 'निरुक्त' के भाष्यकार आचार्य दुर्गा का वह कथन ध्यान देने योग्य है, जिसमें उन्होंने मन्त्रों के अधियज्ञ, अव्यात्म और अविदैव सभी 'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अविदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः'—निरुक्त २।२ की व्याख्या।

(२२)

इस बातका प्रयत्न किया गया है कि अनावश्यक विस्तार में जाए बिना ही मूल की समस्त बातों को सुलझा दिया जाए, एतदर्थ प्रायः मूलानुगामी अनुवाद तथा कहीं-कहीं व्याख्या का सहारा लिया गया है। जो बातें अनुवाद तथा व्याख्या में स्पष्ट नहीं की जा सकती थीं, उन्हें पादटिप्पणियों में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। व्याख्या कैसी है, इस सम्बन्ध में सुधी पाठक ही कुछ कहने के अधिकारी हैं।

इस पुस्तक की व्याख्या तथा भूमिका के लेखन में 'ऋग्वेदभाष्यभूमिका' के जिन संस्करणों, व्याख्याओं तथा अन्य ग्रंथों की सहायता ली गई है, उनके विद्वान् सम्पादकों तथा लेखकों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, इस संदर्भ में मैं भारतीय वाङ्मय के नदीष्ण विद्वान् तथा मौन साधक आचार्य बलदेव उपाध्याय के प्रति अपनी सविशेष हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। जिनके विश्रुत ग्रंथ 'आचार्य सायण और माधव' का उपयोग प्रस्तुत भूमिका के ऐतिहासिक तथ्यों के लेखन में किया गया है। उन वन्दनीय गुरुजनों और विद्वानों के प्रति मैं श्रद्धावन्त हूँ, जिनके शुभाशीर्वादों तथा यथासमय दिए गए सत्परामर्शों से मेरा व्याख्यापथ प्रशस्त हुआ है। और अन्त में मैं 'भारतीय विद्या प्रकाशन' के स्वामी श्री किशोरचन्द्र जैन का भी कृतज्ञ हूँ, जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन के अभाव में मेरी न तो इधर प्रवृत्ति ही हो पाती और न ग्रन्थ को ही यह रूप प्राप्त हो पाता।

—श्रीकान्त पांडेय

मूल ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

- | | |
|---|-----------------------------|
| १. अत्रिस्मृति | २१. पूर्वमीमांसा |
| २. अथर्ववेद | २२. वादरायण |
| ३. आपस्तम्ब | २३. ब्राह्म |
| ४. आश्वलायन | २४. बोधायन |
| ५. उत्तरमीमांसा (मीमांसासूत्र) | २५. भाष्यकृत (शंकराचार्य) |
| ६. ऐतरेय ब्राह्मण | २६. मनु |
| ७. ऐतरेयोपनिषद् | २७. मनुस्मृति |
| ८. ऋग्वेद | २८. महाभाष्य |
| ९. कालिदास | २९. मुण्डकोपनिषद् |
| १०. चार्वाक | ३०. यजुर्वेद |
| ११. छान्दोग्योपनिषद् | ३१. याज्ञवल्क्य |
| १२. जैमिनि | ३२. यास्क |
| १३. तापनीयोपनिषद् (नृसिंह तापनीयो-
पनिषद्) | ३३. वररुचि |
| १४. तैत्तिरीयोपनिषद् | ३४. वार्त्तिक |
| १५. न्यायशास्त्र | ३५. विष्णुस्मृति |
| १६. निरुक्त | ३६. वेदाङ्ग ज्योतिष |
| १७. पतञ्जलि | ३७. वैष्णव पुराण |
| १८. पाणिनि | ३८. शतपथ ब्राह्मण |
| १९. पाद्म (पद्म पराण) | ३९. शिक्षा (पाणिनीय शिक्षा) |
| २०. पुरुषार्थानुशासन | ४०. सामवेद |
| | ४१. हारीतस्मृति |

मूलग्रन्थ में कोष्ठों के अन्तर्गत संकेतित ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के संक्षिप्त नामों के पूर्णरूप

संक्षिप्त नाम

आप०
 आप० परि०
 आप० श्री० सू०
 आश्व० श्री० सू०
 ऋ०
 ऋ० सं०
 ऐ० आ०
 ऐ० उ०
 ऐ० ब्रा०
 का० अ०
 छा० उ०
 जै० न्या० मा०
 जै०
 जै० सू० }
 ता० ब्रा०
 ता० म० ब्रा०
 तै० आ०
 तै० ब्रा०
 तै० सं०
 नि०
 नृ० ता० उ०
 पा० शि०
 पा० सू०

पूर्णनाम

आपस्वम्ब
 आपस्तम्ब परिभाषा
 आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
 आश्वलायन श्रौतसूत्र
 ऋग्वेद संहिता
 ऋग्वेदसंहिता
 ऐतरेय आरण्यक
 ऐतरेय उपनिषद्
 ऐतरेय ब्राह्मण
 कात्यायन अनुक्रमणी
 छान्दोग्य उपनिषद्
 जैमिदिन्यायमाला
 जैमिनीयसूत्र
 ताण्ड्य ब्राह्मण
 ताण्ड्यमहाब्राह्मण
 तैत्तिरीय आरण्यक
 तैत्तिरीय ब्राह्मण
 तैत्तिरीय संहिता
 निरुक्त
 नृसिंह तापिनीय उपनिषद्
 पाणिनीय शिक्षा
 पाणिनीय सूत्र

(ग)

च० उ०

च० उ० वा०

न० सू०

न० सू० शा० भा०

मनु०

मु० उ०

मै० सं०

या० स्मृ०

वा० सं०

वै० न्या० मा०

श० ब्रा०

शा० भा०

बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहदारण्य उपनिषद् वार्तिक

ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य

मनुस्मृति

मुण्डक उपनिषद्

मैत्रायनी संहिता

वाजवल्क्य स्मृति

वाजसनेयी संहिता

वैयासिक न्यायमाला

शतपथ ब्राह्मण

शाबर भाष्य

सायणाचार्यकृता ऋग्वेदभाष्यभूमिका

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥

ऋग्वेदभाष्यभूमिकामेतां सायणाचार्यनिमिताम् ।
हिन्दी व्याख्यान्वितां कुर्वे गुरुन्तत्वा यथामति ॥

१. समस्त कार्यों के प्रारम्भ में ब्रह्मा आदि देवता, जिसको प्रमाण करके कृतार्थ अर्थात् सफल मनोरथ हो जाते हैं, उन गजानन अर्थात् हाथी के मुख के समान मुखवाले गणेश को (मैं सायणाचार्य) प्रणाम करता हूँ ।

२. जिसके निःश्वास (ही) वेद हैं (तथा) जिसने वेदों से (ही) समस्त संसार का निर्माण किया है, उन विद्यातीर्थरूपी^१ महेश्वर अर्थात् परमात्मा को मैं (सायणाचार्य) प्रणाम करता हूँ ।

३. (मैं उन विद्यातीर्थ को प्रणाम करता हूँ) जिनके कृपा कटाक्ष से उनके रूप को धारण करते हुए महाराज बुक्क ने माधवाचार्य^२ को वेदों के अर्थ को प्रकाशित करने के लिए आदेश दिया ।

१. स्वामी विद्यातीर्थ आचार्य सायण और माधव के गुरु थे । सायण ने उनको ही महेश्वर के रूप में प्रणाम किया है ।

२. आचार्य माधव सायण के बड़े भाई और अपने समय के महान् विद्वान् थे । विजयनगरम् के महाराज बुक्क ने उन्हें ही वेदों की व्याख्या करने का आदेश दिया था, जैसा कि सायण के वाक्य से भी स्पष्ट है । किन्तु राजकीय कार्यों के गौरव और सायण की विद्वत्ता का उपयोग करने की इच्छा से आचार्य माधव ने इस कार्य के लिए सायण को नियुक्त किया । सायण ने माधव के नाम से ही समस्त वैदिक वाङ्मय का भाष्य किया ।

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।

कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं ववतुमुद्यतः ॥ ४ ॥

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।

यजुर्वेदोऽयं होत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ ५ ॥

एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः संप्रदायतः ।

व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

अत्र केचिदाहुः—ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्रास्नातत्वात् 'अभ्यहितं पूर्वम्' इति न्यायेन अभ्यहितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम् । प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते विस्पष्टम्—

४ जो 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा' (नामक शास्त्र) हैं, उनकी अत्यन्त संक्षेप में व्याख्या करके कृपालु माधवाचार्य वेदों के अर्थ का कथन करने के लिए उद्यत हुए ।

५. यज्ञों में आध्वर्यव अर्थात् अध्वर्यु नामक यज्ञीय ऋत्विक् के कर्म की प्रधानता होने के कारण (मैंने) पहले यजुर्वेद की व्याख्या की (अब) होत्र अर्थात् होता नामक यज्ञीय ऋत्विक् के कर्म के लिए ऋग्वेद की व्याख्या करूंगा ।

६. (ऋग्वेद की) इस (व्याख्या) में प्रथम अध्याय (की व्याख्या) को सम्प्रदाय के अनुसार सुनना चाहिए, उतने से व्युत्पन्न हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति (शेष) समस्त (ऋग्वेद) को (स्वयं) समझ सकता है ।

पूर्वपक्ष

सम्मानित होने के कारण ऋग्वेद की ही व्याख्या पहले की जानी चाहिए थी न कि यजुर्वेद की, जैसा कि सायण ने किया है

आचार्य सायण जैसा कि उन्होंने स्वयं अभी कहा है, यजुर्वेद की व्याख्या करने के पश्चात् ऋग्वेद की व्याख्या में प्रवृत्त हुए । उनके इस कार्य पर कुछ

१. सायण ने ऋग्वेद के प्रथम अध्याय (मण्डल) की व्याख्या इतने विस्तार से की कि कोई ज्ञातव्य बात छूटने नहीं पाई है । शेष अध्यायों की व्याख्या में यह बात नहीं पाई जाती । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर सायण ने प्रथम अध्याय की व्याख्या को ध्यान से पढ़ने के लिए कहा है ।

‘तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥’

(ऋ० सं० १०।९०।९) इति ।

तस्मात् ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः’ (ऋ० १०।९०।१) इत्युक्तात् परमेश्वरात्, यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात् । सर्वहुतः सर्वहूयमानात् । यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः । तथा च मन्त्रवर्णः—

‘इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-

रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥’ (ऋ० सं० १।१६।४६) इति ।

विद्वानों का कथन है कि वेदों के प्रसंग में प्रायः सर्वत्र ही ऋग्वेद का उल्लेख सबसे पहले किया गया है, और पहले उल्लेख उसका होता है, जो अभ्यर्हित अर्थात् सम्मानित होता है, क्योंकि ‘अभ्यर्हितं पूर्वम्’ सिद्धान्त के अनुसार अभ्यर्हित का ही उल्लेख पहले होता है । क्योंकि ऋग्वेद का उल्लेख सर्वत्र प्रथम हुआ है, इससे यह स्पष्ट है कि वह अन्य वेदों की अपेक्षा सम्मानित है । इस आधार पर उसकी व्याख्या पहले की जानी चाहिए । और ऋग्वेद का अन्य वेदों की अपेक्षा यह प्रथम उल्लेख उसके पुरुषसूक्त में स्पष्ट है :

यजन करने योग्य और समस्त लोगों के द्वारा बुलाए जानेवाले उस परमात्मा से सभी ऋचाएँ और साम उत्पन्न हुए । उसी से छन्दस् अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र और यजुष् अर्थात् यजुर्वेद के गद्यात्मक मन्त्र उत्पन्न हुए ।’

इस मन्त्र में आए हुए ‘तस्मात्’ शब्द का तात्पर्य परमात्मा से है, जिसका संकेत इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र के ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः’ अंश में स्पष्ट है । यज्ञ का अर्थ है, यजनीय अर्थात् पूजनीय और ‘सर्वहुत’ का अर्थ है सभी के द्वारा बुलाया जानेवाला ।

यद्यपि यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि उन उन यज्ञों में इन्द्र आदि देवताओं का भी अह्वान होता है, न कि केवल परमात्मा का ऐसी स्थिति में

वाजसनेयिनश्चमानन्ति—‘तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमे-
तस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः । (बृ० उ० १।४।६) इति ।
तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते ।

न केवलमृचां पाठप्राथम्येनाभ्यर्हितत्वं किंतु यज्ञाङ्गदाढ्यहेतुत्वा-
दपि । तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—‘यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा
क्रियते शिथिलं तद् यद् ऋचा तद् दृढम् ।’ (तै० सं ६।५।१०।३) इति ।

उक्त ऋचा के ‘सर्वदुतः’ का तात्पर्य केवल परमात्मा से कैसे हो सकता है ?
इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कथन है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि यज्ञों में
इन्द्र आदि का भी आह्वान होता है, किन्तु वहाँ इन्द्रादि के रूप में परमेश्वर
ही अवस्थित है न कि इन्द्र आदि के रूप में अन्य कोई देवता । इस प्रकार उन
मन्त्रों और इस मन्त्र के अर्थ में कोई विरोध नहीं है । उदाहरण के लिए
निम्नलिखित मन्त्र का कथन है :

एक ही तत्त्व को विद्वानों ने अनेक प्रकार से कहा है । उस एक को ही
इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं, वही दिव्य सुपर्ण गरुड़ है, उसे ही अग्नि,
यम और मातरिश्वा भी कहते हैं । वाजसनेयो शाखा के अध्येताओं का भी
कथन है :

‘प्रत्येक देवता को लक्ष्य करके जो यह कहा जाता है कि, इसका यजन करो,
इसका यजन करो । वह सब (देवता) इसी (परमात्मा) की सृष्टि हैं, क्योंकि
यह (परमात्मा) ही सब देवता है ।’

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी लोग केवल परमात्मा का आह्वान
करते हैं ।

उपर्युक्त रूप में अन्य वेदों की अपेक्षा ऋचाओं (ऋग्वेद) के पाठ—प्राथम्य
अर्थात् प्रथम उल्लेख के कारण ही ऋग्वेद अभ्यर्हित नहीं है, अपितु यज्ञ के
अंगों को दृढ़ बनाने के कारण भी उसका अभ्यर्हितत्व सिद्ध है । उदाहरण के
लिए तैत्तिरीय शाखा के अध्येताओं का कथन है—‘साम और यजुष् के द्वारा यज्ञ
का जो कार्य सम्पन्न किया जाता है, वह शिथिल होता है, किन्तु जो कार्य
ऋचा के द्वारा सम्पन्न किया जाता है, वह दृढ़ होता है ।’

तथा च सर्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदादर्थाय 'तदेतद् ऋचाभ्युवतम्' इति ऋचमेवोदाहरन्ति । मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेद गतेषु तत्र तत्राध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाताः । साम्नां तु सर्वेषामृगाश्रितत्वं प्रसिद्धम् । अथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायामृच एव बाहुल्येनाधीयन्ते । अतोऽन्यैः सर्ववेदैरादृतत्वादभ्यहितत्वं प्रसिद्धम् ।

छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति— 'ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्, (छा० उ० ७।१।२) इति । मुण्डकोपनिषद्यपि एवमाम्नायते— "ऋग्वेदो यजुर्वेदः

इसके अतिरिक्त समस्त वेदों से सम्बद्ध ब्राह्मण अपने द्वारा कहे गये अर्थ में लोगों के विश्वास को दृढ़ करने के लिए इस बात को ऋचा ने भी कहा है, ऐसा कहकर ऋचा को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं । यजुर्वेद के मन्त्रकाण्डों में भी अनेक स्थानों पर अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के द्वारा प्रयोग में लाई जानेवाली बहुत सी ऋचाएँ कही गई हैं । सभी सामों का तो ऋचाओं पर आश्रित होना प्रसिद्ध ही है । अथर्ववेद के अध्वेता भी अपनी संहिता (अथर्वसंहिता) में अधिकतर ऋचाओं का ही अध्ययन करते हैं । इसलिए सभी वेदों के द्वारा आदृत होने के कारण ऋग्वेद का अभ्यहित होना सिद्ध है ।

छन्दोग्योपनिषद् के अध्वेता ऋग्वेद के अन्य वेदों की अपेक्षा प्राथम्य अर्थात् प्रथम उल्लेख के सम्बन्ध में सनत्कुमार के प्रति नारद के वाक्य को इस प्रकार कहते हैं— 'हे भगवान् ! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन करता हूँ ।' मुण्डकोपनिषद् में भी ऐसा कहा जाता है— 'ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।' तापनीयोपनिषद् में भी मन्त्रराज^१ के चारों पादों में

१. यहाँ मन्त्रराज से तात्पर्य नृसिंह से है, सम्बद्ध उस मन्त्र से जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—

'स तपस्तप्त्वा एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत् तेन च सर्वमिदमसृजत् यदिदं किञ्च ।'

—नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् १।१

सामवेदोऽथर्ववेदः' (मु० उ० १।१।५) इति । तापनीयोपनिषद्वापि मन्त्र-
राजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमासन्ति—'ऋग्यजुःसामाथर्वणिश्चत्वारो
वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृ० ता० उ० १।२)
इति ।

एवं सर्वत्र उदाहरणीयम् । तस्मात् ऋग्वेदस्याभ्यहितस्यादौ व्या-
ख्यानमुचितमिति ।

तान् प्रति एतदुच्यते—

अस्तु एवं सर्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव
प्राथम्यम् । अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधान-
त्वात् तद्व्याख्यानमेवादौ युक्तम् । तत्प्राधान्यं च काचिद्गोत्रेण आह—

‘ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्

गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां

यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥ (ऋ० १०।७१।११) इति ।

उनके क्रमिक अध्ययन को इस प्रकार कहा गया है—‘अंगों और शाखाओं
सहित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद (मन्त्रराज के) चार
पाद हैं ।’

इसी प्रकार सर्वत्र उदाहरण उपलब्ध होते हैं । इसलिए सभी वेदों
में अभ्यहित होने के कारण ऋग्वेद की व्याख्या सर्वप्रथम की जानी थी ।

सिद्धान्तपक्ष

ऋग्वेद के प्राथम्य को लेकर उसके व्याख्यान को सबसे पहले किए जाने के
सिद्धान्त को प्रस्तुत करनेवाले इन पूर्वपक्षियों से सिद्धान्तपक्ष की ओर से आचार्य
सावण का कथन है कि इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि समस्त वेदों के अध्ययन,
उनके पारायण, ब्रह्मयज्ञ और जप आदि में ऋग्वेद का ही प्राथम्य है और इसलिए
इन दृष्टियों से वह पूजित भी है । किन्तु जहाँ तक अर्थज्ञान का प्रश्न है, क्योंकि

एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः संक्षिप्य दर्शयति—‘इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे’ । पुनरपि स एव प्रथमं पादं विवृणीति—‘ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनां’ (नि० १।८) इति । अस्यायमर्थः—त्वशब्द एकशब्दपर्यायो होतृविशेषणम् । होतृनामक एक ऋत्विक् यज्ञकाले स्वकायवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते । भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातानामृचां संघमेकत्र सम्पाद्यतावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति सेयं पुष्टिः । अर्चनं, स्यमुमर्थमृक्शब्द आचष्टे । अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देव-विशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वा इति ऋक्शब्दव्युत्पत्तिरिति ।

उसका उपयोग यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त होता है, और यज्ञानुष्ठान यजुर्वेद पर अवलम्बित है, इसलिए उसमें यजुर्वेद की प्रधानता माननी होगी और इस आधार पर प्रथम उसके ही व्याख्यान का होना उपयुक्त है । यजुर्वेद की प्रधानता को ऋग्वेद के किसी मन्त्र ने ही इस प्रकार बताया है—

‘ऋत्विजों में से कोई (होता नामक ऋत्विक्) ऋचाओं की पुष्टि करता है । कोई (उद्गाता नामक ऋत्विक्) शक्वरी नामक ऋचाओं में गायत्र (नामक साम) को गाता है । कोई ब्रह्मा नामक ऋत्विक् समय-समय पर विद्या को कहता है, और कोई (अध्वर्यु नामक ऋत्विक्) यज्ञ के स्वरूप का सम्पादन करता है ।’

इस ऋचा के तात्पर्य को ‘निरुक्त’ के रचयिता महर्षि यास्क ने संक्षेप में इस प्रकार बताया है—‘यह (ऋचा) ऋत्विजों के कर्मों के विनियोग को बतलाती है ।’ इसके पश्चात् वे ही उक्त ऋचा के प्रथम पाद का विवरण प्रस्तुत करते हैं—‘पोषण करनेवाला कोई होता नामक ऋत्विक् ऋचाओं का पोषण करता है । ऋक् का अर्थ है अर्चनी अर्थात् जिसके द्वारा किसी देवता की अर्चना की जाये, वह ।’ इस प्रकार यास्क के मन्तव्य के अनुसार उक्त ऋचा का यह अर्थ होता है—ऋचा में आया ‘त्व’ शब्द एक का पर्याय और ‘होता’ का विशेषण है । होता नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के समय अपने वेद अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाओं की पुष्टि करता रहता है । यहाँ ‘पुष्टि’ शब्द का

अथ द्वितीयं पादं विवृणोति—‘गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः । शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद् यदाभिवृत्रम-
शकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते’ इति । अस्यायमर्थः—
उद्गातूनामकः एकः ऋत्विक् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दा-
भिधेयास्वृक्षु गायति । धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रियावाचिनो गायति-
धातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः । शक्वरीशब्दस्तु शक्नोतिधातोरुत्पन्नः ।
वृत्रं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे
विज्ञायते इति ।

अर्थ है ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों की ऋचाओं का एक स्थान पर समूह बना कर यह निश्चय करना कि—‘यह इतना शस्त्र है’ । ‘ऋक्’ शब्द ‘अर्चनी’ (जिसके द्वारा किसी की अर्चना की जाये) अर्थ को कहता है । तात्पर्य यह है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से ‘ऋक्’ उसे कहते हैं, जिसके द्वारा देवविशेष, क्रिया विशेष अथवा उसके साधन विशेष की अर्चना अर्थात् प्रशंसा की जाती है ।

उपर्युक्त ऋचा के द्वितीय पाद का विवरण यास्क इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—‘एक उद्गाता नामक ऋत्विक् शक्वरी नामक ऋचाओं में गायत्र नामक साम को गाता है । ‘गायत्र’ शब्द स्तुति अर्थ वाली ‘गै’ धातु से निष्पन्न होता है । ‘शक्वरी’ नामक ऋचाएँ हैं । यह शब्द ‘शक्’ धातु से निष्पन्न हुआ है (किसी ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार), इन ऋचाओं को शक्वरी इस लिए कहते हैं, क्योंकि इन्द्र इनके द्वारा ही वृत्र को मार सका था ।’ यास्क के इन शब्दों का यह अर्थ हुआ—उद्गाता नामक एक ऋत्विक् गायत्र नामक स्तोत्र को शक्वरी नामक ऋचाओं में गाता है । धातुओं के अनेक अर्थ होने के कारण स्तुति अर्थ वाचक ‘गै’ धातु से गायत्र शब्द उत्पन्न हुआ है । जहाँ तक शक्वरी शब्द का सम्बन्ध है, वह ‘शक्’ धातु से उत्पन्न हुआ है । इन्हें शक्वरी इस लिए कहा जाता है कि इनके द्वारा इन्द्र वृत्र को मार सका था । शक्वरी की यह व्युत्पत्ति किसी ब्राह्मण ग्रन्थ में दललाई गई है ।

इसके पश्चात् यास्क ऋचा के तृतीय पाद की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं—‘ब्रह्मा नामक एक ऋत्विक् समय-समय पर विद्या को कहता है । ब्रह्मा समस्त

अथ तृतीयं पादं विवृणोति—‘ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति । ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति’ इति । अस्यायमर्थः—ब्रह्मनामकः एकः ऋत्विक् जाते जाते तदा उत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति, ‘ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि’ इत्येवं संबोधितः सन् ‘ओम् प्रणय’ इत्यनुजानाति । स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्वकर्माभिज्ञः । तस्मात् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं सति प्रमादे समाधातुं च समर्थः इति । तच्च सामर्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति—‘एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी, तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा, वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराम्’ (छा० उ० ४।१६।१-२) इति । कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसंधेयो, वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः । तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति । ब्रह्मा तु एक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति । तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति ।

विद्याओं को जाननेवाला होता है, वह यज्ञ से सम्बद्ध सब बातों को जानने की सामर्थ्य रखता है ।’ महर्षि यास्क के इन शब्दों का अर्थ यह है—ब्रह्मा नामक एक ऋत्विक् जात अर्थात् समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले यज्ञ के अवसर पर प्रणयन आदि कर्मों के प्रस्तुत होने पर दूसरे ऋत्विक् को विद्या अर्थात् अनुज्ञा प्रदान करता है । उदाहरण के लिए अन्य ऋत्विक् के द्वारा ‘ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि (श्रीमन्, क्या मैं इन जलों को प्रेरित करूँ)’ इस प्रकार सम्बोधित होने पर वह ‘ओम् प्रणय’ (हां, प्रेरित करो) कह कर अनुमति प्रदान करता है । और वह ब्रह्मा तीनों वेदों में कहे गए समस्त कर्मों का ज्ञाता होता है । इसीलिए वह योग्यता को देखकर उन-उन कर्मों को करने के लिए अनुमति प्रदान करने तथा किसी ऋत्विक् के द्वारा कोई प्रमाद हो जाने पर उसका समाधान करने में भी समर्थ होता है । ब्रह्मा के इस सामर्थ्य को ‘छान्दोग्य’ उपनिषद् के अध्येता इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—यही यज्ञ है । मन और वाणी उसके मार्ग हैं । उन दोनों में से एक मार्ग का संस्कार ब्रह्मा नामक ऋत्विक् मन के द्वारा करता है और दूसरे मार्ग

अथ चतुर्थं पादं विवृणोति—‘यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः । अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता’ इति । अस्यायमर्थः— अध्वर्युनामकः एकः ऋत्विक् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषेण निष्पादयति । मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपं । तन्निष्पादकत्वं च अध्वर्योर्नामनिर्वचनादवगम्ययते । ‘अध्वर्युः’ इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया

संस्कार होता, अध्वर्यु और उद्गाता नामक ऋत्विक् वाणी के द्वारा करते हैं ।’ कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ में होनेवाले प्रमादों से उसे बचाने के लिए समस्त यज्ञ का मन के द्वारा अच्छी प्रकार से अनुसन्धान (निरीक्षण, विचार) करना चाहिए और तीनों वेदों में कहे गये अपने मन्त्रों को अपनी वाणी के द्वारा पढ़ना चाहिए । चारों ऋत्विजों में होता, उद्गाता और अध्वर्यु नामक ऋत्विक् तो मिलकर वाणीरूप यज्ञमार्ग का संस्कार करते हैं जब कि ब्रह्मा नामक ऋत्विक् अकेले ही समस्त मनरूप यज्ञमार्ग का संस्कार करता है । इसलिए ब्रह्मा में प्रमादों के समाधान का सामर्थ्य है ।

इसके अनन्तर यास्क चतुर्थ पाद का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— ‘अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के स्वरूप को निष्पन्न करता है । ‘अध्वर्यु’ शब्द का शुद्ध रूप ‘अध्वरयु’ है, जिसका अर्थ है अध्वर (यज्ञ) को जोड़नेवाला, अध्वर का नेता (यास्क के विचार में ‘अध्वरयु’ के रकार के पश्चात् आने वाले ‘अ’ का छान्दस लोप हो जाने पर ‘अध्वर्यु’ शब्द निष्पन्न होता है) ।’ यास्क के इन शब्दों का अर्थ यह है—अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक् यज्ञ की मात्रा अर्थात् स्वरूप का विशेष रूप से निष्पादन करता है । प्रस्तुत सन्दर्भ में ‘मात्रा’ शब्द का अर्थ ‘मीयते’ अर्थात् ‘निर्मीयते’ (जो निर्मित की जाये वह) इस व्युत्पत्ति के आधार पर ‘स्वरूप’ है । अध्वर्यु के यज्ञ के स्वरूप का निष्पादक होना उसके नाम के निर्वचन से ही इस बात का ज्ञान करा देता है कि वह अध्वर को जोड़ने वाला (अध्वर + यु) होने के कारण यज्ञ के स्वरूप को निष्पन्न करने वाला है । ‘अध्वर्यु’ शब्द में छान्दस नियम के अनुसार रकार के पश्चात् का जो अकार लुप्त हो गया है उसका प्रक्षेप पुनः कर के ‘अध्वरयु’ शब्द बना लेना चाहिए । ऐसी स्थिति में इसके अवयवों (शब्द के मुख्य दो घटकों ‘अध्वर’ + यु (ज्)) का

लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः' इति नाम संपादनीयम् । अध्वरं युनक्ति इति अवयवार्थः । अध्वरस्य नेता इति तात्पर्यार्थः इति । एतदेवाभिप्रेत्य अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्को दर्शयति 'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात् यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) इति ।

एवं सति अध्वर्युसंबन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्यन्ते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम् । तत ऊर्ध्वं सास्नामृगाश्वि-

अर्थ होगा 'अध्वर को जोड़ने वाला' । और इसका तात्पर्यार्थ होगा 'अध्वर का नेता' । इसी अभिप्राय से यास्क ने अध्वर्युओं के वेद (यजुर्वेद) का इसके यज्ञ के निष्पादकत्व को सूचित करने वाला निर्वचन किया है 'मनन के कारण' मन्त्र' नाम पड़ा, छादन के कारण 'छन्द' नाम पड़ा, स्तुति के कारण 'स्तोम' नाम पड़ा, और यजन (यज्ञ करने) के कारण 'यजुष्' नाम पड़ा ।

उपर्युक्त स्थिति होने पर अध्वर्युओं से साबद्ध यजुर्वेद में निष्पन्न होनेवाले यज्ञ के स्वरूप (शरीर-स्वरूप) को आधार बनाकर उस (यज्ञस्वरूप) के लिए अपेक्षित 'स्तोत्र' और 'शस्त्र' रूप उसके दो अवयव अन्य दो 'वेदों' के द्वारा पूरे किए जाते हैं (सामवेद के द्वारा 'स्तोत्र' की और 'ऋग्वेद' के द्वारा 'शस्त्र' की पूर्ति की जाती है) । इससे स्पष्ट है कि यजुर्वेद उपजीव्य है (और अन्य वेद जिनमें ऋग्वेद भी है उपजीवी हैं) अतः उसकी ऋग्वेद से पहले व्याख्या करनी उचित है । उसके पश्चात् सामों के ऋक् पर आश्रित होने के कारण ऋग्वेद और सामवेद में से ऋग्वेद की ही पहले व्याख्या करनी उचित है । इसी आधार पर (यजुर्वेद की व्याख्या करने के पश्चात्) अब ऋग्वेद की व्याख्या की जा रही है ।

१. प्रस्तुत सन्दर्भ में स्तोत्र से तात्पर्य सामयुक्त ऋचा से है—

होता नामक ऋत्विक् के द्वारा सोमयाग के अवसर पर उच्चारित ऋचा को 'शस्त्र' कहते हैं । क्योंकि होता का अपना वेद ऋग्वेद है, इसलिए 'शस्त्र' की पूर्ति ऋग्वेद से ही होती है, यह स्पष्ट है ।

तत्वात् उभयोर्मध्ये प्रथमतः ऋग्व्याख्यानं युक्तम् इति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते ।

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः ? तथाहि, कोऽयं वेदो नाम ? न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वास्ति । न च तदुभयव्यतिरेकेण किञ्चिद् वस्तु प्रसिध्यति । 'लक्षणप्रमाणभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतम् ।

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत् । न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः । 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात् ।

पूर्वपक्ष

(वेद नामक किसी ग्रन्थ विशेष के अस्तित्व के न होने के कारण उसके अवान्तर विशेष ऋग्वेद के व्याख्यान की चर्चा व्यर्थ है)

पूर्वपक्ष की ओर से यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जब संसार में वेद ही की सत्ता नहीं है तो उसके अवान्तरविशेष ऋग्वेद की सत्ता कैसे सम्भव है ? उदाहरणार्थ, यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह वेद नाम की कौन सी वस्तु है ? इस वेद का न तो कोई लक्षण है और न इसके अस्तित्व का ही कोई प्रमाण है । और किसी भी वस्तु की सिद्धि उन दोनों, अर्थात् लक्षण और प्रमाण के अभाव में नहीं होती । लक्षण और प्रमाण के द्वारा ही वस्तु की सिद्धि होती है, ऐसा न्यायशास्त्र के वेत्ताओं का भी मत है ।

यदि कोई यह कहे कि 'प्रत्यक्ष' अनुमान और आगम (शब्द) नामक जो तीन प्रमाण कहे गए हैं उनमें से अन्तिम प्रमाण अर्थात् आगम या शब्दप्रमाण ही वेद है, यह वेद का लक्षण है (और इस प्रकार लक्षण के होने से वेद का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है) तो यह कथन कुछ उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मनु आदि के द्वारा प्रणीत स्मृतियों ('मनुस्मृति' आदि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों) में वेद के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी । इसका कारण यह है कि संकेत (समय-संकेत) के बल पर परोक्ष अर्थात् इन्द्रियातीत पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के साधन को आगम प्रमाण कहते हैं । जो यह आगम प्रमाण का लक्षण है वह उन

‘अपौरुषेयत्वे सति’ इति विशेषणाददोषः इति चेत् । न, चेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात् ।

शरीरधारिपुरुषनिर्मितत्वाभावात् अपौरुषेयत्वम् इति चेत् । न, ‘सहस्रशार्षा पुरुषः’ (ऋ० १०।१०।१) इत्यादिश्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरत्वात् ।

कर्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत् । न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् ।

मनु आदि स्मृतियों पर भी लागू हो जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि आगम का यह लक्षण जिस प्रकार वेद पर लागू होता है उसी प्रकार स्मृतियों पर भी, इसलिए यदि इस लक्षण के आधार पर किसी ग्रन्थ को ‘वेद’ कहा गया तो स्मृतियों को भी उसी नाम से अभिहित करना होगा, जो प्रतिपक्षी को स्वीकार्य नहीं) ।

वेद के लक्षण को इस अतिव्याप्ति से ग्रस्त होने से बचाने के लिए यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि उस लक्षण में ‘अपौरुषेयत्वे सति (पुरुष के द्वारा निर्मित न होने पर)’ इस अंश का निवेश कर देने पर उक्त दोष नहीं रह जाएगा अर्थात् ‘वेद के उक्त लक्षण को संकेत के बल पर इन्द्रयातीत पदार्थों के सम्यग् ज्ञान के ऐसे साधन को आगम प्रमाण कहते हैं जो पुरुषनिर्मित न हो’ इस प्रकार परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करने पर यह लक्षण मनु आदि स्मृतियों पर न लागू होकर केवल वेद पर लागू होगा, क्योंकि अपौरुषेय केवल वेद है, न कि स्मृतियाँ, फलतः लक्षण में अतिव्याप्तिदोष न आ सकेगा तो यह भी उचित न होगा । क्योंकि वेद परमेश्वर के द्वारा निर्मित होने के कारण वह भी पौरुषेय ही है ।

इस पर यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि प्रस्तुत सन्दर्भ में ‘अपौरुषेय’ का अर्थ है शरीर धारण करने वाले पुरुष के द्वारा निर्मित न होना (और परमेश्वर क्योंकि अशरीरी है, इसलिए उसके द्वारा निर्मित वेद ही अपौरुषेय होगा) तो यह कहना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि ऋग्वेद के ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः (हजारों सिरों वाला पुरुष)’ इत्यादि मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि ईश्वर भी शरीरधारी है ।

‘ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्’ (ऐत० ब्रा० ५।३२) इति श्रुतेः ईश्वरस्य अग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम् ।

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिवेद इति चेत् । न, इदृशो मन्त्रः इदृशं ब्राह्मणमित्यनयोरद्याप्यनिर्णीतत्वात् । तस्मान्नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम् ।

नापि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः । ‘ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्’ (छां० उ० ७।१।२) इत्यादिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् । न, तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोहं प्रभवति ।

अतः स्पष्ट है कि शरीरधारी पुरुष परमेश्वर के द्वारा रचित होने के कारण वेद अपौरुषेय नहीं हो सकेगा, जोकि प्रतिपक्षी को इष्ट था ।

यहाँ पर प्रतिपक्षी के लिए यह कहना भी उचित न होगा कि मुझे कर्मफल के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले शरीर को धारण करनेवाले जीव के द्वारा निर्मित न होना मात्र ही अपौरुषेयत्व से विवक्षित है, क्योंकि अग्नि, वायु, और आदित्य रूप जीवविशेषों के द्वारा ही वेदों की उत्पत्ति हुई है (न कि ईश्वर से, इसलिए उसका पौरुषेयत्व ही उचित है) । अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद उत्पन्न हुआ इस श्रुतिवाक्य से यही सिद्ध होता है कि ईश्वर अग्नि आदि को वेद की रचना में प्रेरित करने के कारण ही वेद का कर्त्ता है । तात्पर्य यह कि अपौरुषेयत्व की कैसी भी व्याख्या क्यों न करें, वेद अपौरुषेय नहीं है, क्योंकि उसकी रचना ईश्वर ने नहीं की है, अपितु उन अग्नि आदि देवताओं ने की है, जिन्हें प्रतिपक्षी भी जीवविशेष मानता है । यह बात ऊपर के श्रुति वाक्य से सर्वथा स्पष्ट है । यदि ईश्वर वेद का रचयिता है तो केवल अग्नि आदि के प्रेरक के रूप में ही ।

अब यदि प्रतिपक्षी वेद का यह दूसरा लक्षण करे कि मन्त्र और ब्राह्मण रूप शब्दराशि का नाम वेद है तो भी उचित न होगा । क्योंकि ‘मन्त्र ऐसा होता है और ब्राह्मण ऐसा होता है’ ऐसा कोई भी निर्णय अभी तक इन दोनों—

‘वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः’ (या० स्म० १।४०) इत्यादि स्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् । न, तस्यापि उक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात् ।

मन्त्र और ब्राह्मण के सम्बन्ध में नहीं हो सका है । तात्पर्य यह कि जब तक इन दोनों के स्वरूप का निर्णय नहीं हो जाता तब तक ‘मन्त्रब्राह्मणात्मक-शब्दराशिर्वेदः’ कहने से वेद के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं पड़ता । इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि वेद कोई लक्षण नहीं है ।

जहाँ तक वेद के अस्तित्व में प्रमाण की उपलब्धि का प्रश्न है, वह भी कहीं दृष्टिगत नहीं होती । यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि वेद की उपलब्धि में ‘हे भगवन्, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन करता हूँ’ (छान्दोग्योपनिषद् का) यह वाक्य प्रमाण है, अर्थात् इस वाक्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि न केवल वेदसामान्य का ही अपितु, उसके अवान्तर विशेष ऋग्वेद आदि का भी अस्तित्व है, तो यह ठीक न होगा । इसका कारण यह है कि (उपनिषद् के वेद का अङ्ग होने के कारण) उक्त वाक्य के वेद के अन्तर्गत होने से, उसके आधार पर वेद के अस्तित्व को सिद्ध करने पर आत्माश्रय दोष उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि चतुर से चतुर व्यक्ति भी स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने में समर्थ नहीं हो सकता । कहने का तात्पर्य यह कि जिस वाक्य के द्वारा वेदों के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, वह उपनिषद् का है, क्योंकि उपनिषद् भी वेद की सीमा के अन्तर्गत आते हैं, इसलिए उनका वाक्य भी एक प्रकार से वेदवाक्य ही है । स्पष्ट है कि वेद के अस्तित्व का समर्थन वेद के वाक्य से ही दिया गया है, जो कि अनुचित है । क्योंकि समर्थन सदैव दूसरों के द्वारा होना चाहिए । स्वयं का स्वयं के द्वारा समर्थन ही आत्माश्रय दोष है, और आत्माश्रय दोष उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार किसी व्यक्ति का अपने ही कन्धे पर चढ़ना ।

यदि प्रतिपक्षी की ओर से यह उत्तर दिया जाए कि वेद के अस्तित्व का प्रमाण याज्ञवल्क्यस्मृति का ‘वेद ही द्विजातियों का सर्वाधिक कल्याणकारी है’ यह वाक्य प्रस्तुत कर रहा है, तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि यह स्मृति-

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तत्त्वक्षण-
मिति चेत् । न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः । 'समयबलेन सम्यक्-
परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात् ।

'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणाददोषः इति चेत् । न, वेदस्यापि
परमेश्वरनिमित्तत्वेन पौरुषेयत्वात् ।

शरीरधारिपुरुषनिमित्तत्वाभावात् अपौरुषेयत्वम् इति चेत् । न,
'सहस्रशीर्षा पुच्छः' (ऋ० १०।९०।१) इत्यादिश्रुतिभिरीश्वरस्यापि
शरीरित्वात् ।

कर्मफलरूपशरीरधारिजीवनिमित्तत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विव-
क्षितमिति चेत् । न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यवैदानामुत्पादितत्वात् ।

वाक्य भी उक्त वेद पर ही आधृत है, इसलिए जिस प्रकार वेदवाक्य के द्वारा
वेद का समर्थन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार स्मृतिवाक्य के द्वारा भी
फलतः वह भी वेदवाक्य के ही समान आत्माश्रय दोष की प्रसक्ति के कारण
प्रमाणकोटि से बाहर है ।

रह गये प्रत्यक्षादि प्रमाण, सो इस सन्दर्भ में उनके द्वारा वेद के अस्तित्व
को सिद्ध करने की शंका भी नहीं की जा सकती । क्योंकि वेद के सम्बन्ध में
'वेद है' इस प्रकार की लोकप्रसिद्धि, जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों का
आधार बन सकती है, यद्यपि सार्वजनीन है तथापि वह उसी प्रकार भ्रान्त
है, जिस प्रकार आकाश के सम्बन्ध में आकाश नील है इस प्रकार की लोक-
प्रसिद्धि, कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सभी लोग आकाश को नीला
मानते तो हैं, किन्तु उनकी यह मान्यता भ्रान्ति पर आधृत है, क्योंकि वैज्ञानिक
दृष्टि से आकाश का कोई रंग नहीं होता, उसी प्रकार वेद के अस्तित्व के सम्बन्ध
में भी विद्यमान लोकधारणा केवल भ्रान्ति पर ही आधृत है और इस प्रकार
का कोई भ्रान्त तथ्य कभी भी प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद का न तो कोई लक्षण ही है और न
उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण ही है । इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा
सकता, यह पूर्वपक्ष है ।

सिद्धान्त पक्ष (वेद का लक्षण और प्रमाण दोनों हैं, इसलिए उसका अस्तित्व असन्दिग्ध है) ।

पूर्वपक्षी की ओर से प्रस्तुत किए गए तर्कों का खण्डन करते हुए सिद्धान्त पक्षी (सायण) का कथन है कि यह कथन ठीक नहीं है कि वेद का कोई लक्षण ही नहीं है । उसका लक्षण है और वह है—‘मन्त्रब्राह्मणात्मको शब्दराशिर्वेदः । पूर्वपक्षी ने इस लक्षण में जो दोष दिखाए हैं, उनसे यह रहित (अदुष्ट) है । इसीलिए आपस्तम्ब ने यज्ञ की परिभाषा में इस प्रकार कहा है—‘मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ।’ इन दोनों (मन्त्र और ब्राह्मण) के स्वरूप का निर्णय आगे किया जाएगा । ‘वेद अपौरुषेय वाक्य है’ यह सिद्धान्त-हमें जैसा विवक्षित है वैसा आगे स्पष्ट होगा । इतना ही नहीं, वेद के अस्तित्व में श्रुति, स्मृति और लोकप्रसिद्धि रूप यथोक्त प्रमाणों को भी देखा जाना चाहिए । जिस प्रकार घट और घट आदि द्रव्यों में स्वयं प्रकाशित होने की सामर्थ्य के न होने पर भी सूर्य और चन्द्र आदि पदार्थों में स्वप्रकाशत्व के होने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य आदि का अपने कन्धे पर आरोहण करना असम्भव होने पर भी अकुण्ठित शक्ति वाले वेद में अन्य वस्तुओं के प्रतिपादन की सामर्थ्य के समान स्वयं को प्रतिपादित करने की सामर्थ्य भी हो सकती है । कहने का तात्पर्य यह कि संसार के समस्त पदार्थ एक से नहीं होते । उदाहरणार्थ घट आदि पदार्थ स्वयं को प्रकाशित नहीं क-पाते, दूसरों को प्रकाशित करना तो दूर रहा, इसके वितरीत सूर्य आदि दूसरों को प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करते हैं, ठीक इसी प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा वेद के वाक्यों के द्वारा वेद के अस्तित्व को असम्भव सिद्ध करने के लिए जो यह तर्क दिया गया कि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता, उसका उत्तर यह है कि मनुष्य आदि स्वल्पशक्ति वाला होने के कारण स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकते किन्तु वेद के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती । वह अप्रतिहत शक्ति से सम्पन्न होने के कारण अन्य वस्तुओं के प्रतिपादन के साथ-साथ स्वयं अपना भी प्रतिपादन कर सकता है । इसलिए वैदिक सम्प्रदाय को जानने वाले (शङ्कराचार्य जैसे) लोग वेद की अकुण्ठित शक्ति को इन शब्दों में प्रतिपादित करते हैं (वेद के द्वारा दी जाने

भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शब्दोति अवगमयितुम्' (शा० भा० १।१।२) इति । तथा सति वेद-मूलायाः स्मृतेस्तदुभयमूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वरिम् । तस्मात् लक्षणप्रमाणसिद्धौ वेदो न केनापि चार्वाकादिना अपोढुं शक्यते इति स्थितम् ।

ननु अस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः, तथापि नासौ व्याख्यान-महति, अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात् । न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य तत्र दुःसंपादत्वात् । तथाहि 'सम्यग्नुभवसाधनं प्रमाणम्' इति केचित् लक्षणमाहुः । अपरे तु 'अनधिगतार्थगन्तु प्रमाणम्' इत्याचक्षते । न चैतदुभयं वेदे संभवति । मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः तत्र मन्त्राः केचिदबो-

वाली) चोदना भूत, वर्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, व्यवहित और अत्यन्त दूर की वस्तु का ज्ञान करा सकती है ।' इस प्रकार वेद की शक्ति के अप्रतिहत होने तथा फलस्वरूप स्वयं के अस्तित्व में स्वयं को ही प्रामाणिकता के सिद्ध हो जाने पर वेद मूलक स्मृतियों (धर्मशास्त्र) और उन दोनों (वेद और स्मृति) पर आश्रित लोकप्रसिद्धि के भी प्रामाण्य को अनिवारणीय ही समझा जाना चाहिए । इस प्रकार वेद लक्षण और प्रमाण दोनों दृष्टियों से सिद्ध है और उसके अस्तित्व का अपलाप किसी भी चार्वाक आदि के द्वारा किया जाना असंभव है, यह बात स्पष्ट है ।

पूर्वपक्ष (वेद अप्रामाणिक होने के कारण व्याख्या के योग्य नहीं है)

इस पर पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि चलिए मैंने यह स्वीकार कर लिया कि वेद नामक कोई वस्तु है । किन्तु इतना होने पर भी वह व्याख्यान के योग्य नहीं है, क्योंकि वेद के प्रमाण रूप न होने के कारण उसका कोई उपयोग नहीं है, वात्स्य यह कि व्याख्यान किसी उपयोगी ग्रन्थ का ही होता है और ऐसा होने के लिए उसे प्रमाण होना चाहिए अब चूंकि वेद प्रमाण नहीं है इसलिए उसका

धकाः । 'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० १।१६९।३) इत्येको मन्त्रः ।
 'यादृस्मिन् धायि तपस्यया विदत्' (ऋ० ५।४४।८) इत्यन्यः । 'सृण्वेव
 जर्भरी तुर्फरीत्' (ऋ० १०।१०६।६) इत्यपरः । एवम् 'आपान्तमन्यु-
 स्तृपलप्रभर्मा'
 (ऋ० १०।८९।५) इत्यादय उदाहार्याः । न हि एतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽ-
 वबुध्यते । एतेष्वनुभव एव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधन-
 त्वं च दूरापेतम् ।

कोई उपयोग भी नहीं है और इसलिए उसके व्याख्यान को भी कोई आवश्यकता नहीं । वेद प्रमाण इसलिए नहीं है, क्योंकि प्रमाण के लक्षण को उस पर लागू नहीं किया जा सकता । उदाहरण के लिए प्रमाण के कुछ लक्षणों को लिया जा सकता है । कुछ लोग 'सम्यक् अनुभव का साधन प्रमाण, ऐसा प्रमाण का लक्षण कहते हैं' इसके विपरीत कुछ दूसरे लोग 'अज्ञात अर्थ का बोधक प्रमाण है' ऐसा कहते हैं । प्रमाण के ये दोनों ही लक्षण वेद में संभव नहीं हैं, अर्थात् इनमें से कोई भी लक्षण वेद पर लागू नहीं हो सकता । क्योंकि सिद्धान्तपक्षी की दृष्टि में मन्त्र और ब्राह्मण ही वेद हैं । इस लक्षण के मुख्य घटक मन्त्रों में से कुछ किसी अर्थ का बोध न करा सकने के कारण अबोधक हैं । इस दृष्टि से निम्नलिखित मन्त्रों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

'अम्यक् सात इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० १।१६९।३)

'यादृस्मिन् धायि तपस्यया विदत्' (ऋ० ५।४४।८)

'सृण्वेव जर्भरी तुर्फरीत्' (ऋ० १०।१०६।६)

'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा' (ऋ० १०।८९।५)

इन मन्त्रों के द्वारा किसी अर्थ का बोध नहीं होता और अर्थ-बोध के अभाव में अनुभव की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अनुभव अर्थ का ही होता है । इस प्रकार जब इनमें अनुभव ही नहीं है तो उसके सम्यक्त्व तथा वेद के मन्त्रों का उसके साधन होना बहुत दूर की बात है । कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्रों को प्रमाण केवल उसी स्थिति में कहा जा सकता है, जब कि वे सम्यक् अनुभव के

अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (१०।१२९।५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वोपि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थबोधकत्वात् नास्ति प्रामाण्यम् ।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो दर्भविषयः । 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१।१) इति क्षुरविषयः । 'शृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१।३।१) इति पाषाणविषयः । एतेष्वचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् संबोधनं श्रूयते । ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवत् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम् ।

साधन हों और यह बात उनमें से कुछ मन्त्रों के अर्थाभाव को देखते हुए उन पर लागू नहीं हो पाती, क्योंकि अनुभव अर्थ पर आश्रित है और सम्यक्त्व स्वयं अनुभव की सत्ता पर । इस प्रकार सम्यक् अनुभव का साधन न होने के कारण वेद प्रमाण नहीं है ।

यद्यपि 'अधःस्विदासी३ दुपरिस्विदासी३त्' यह मन्त्र सार्थक होने के कारण अर्थ का बोधक है, तथापि स्थाणुर्वा पुरुषो वा या (ठूँठ है या पुरुष) इस वाक्य के समान सन्दिग्ध अर्थ का बोधक होने के कारण प्रमाण नहीं है, अर्थात् जिस प्रकार स्थाणुर्वा पुरुषो का वाक्य सार्थक होने के कारण अर्थ का बोधक तो है किन्तु उसके या ठूँठ है या पुरुष इस अर्थ के सन्दिग्ध होने के कारण उसको प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जाता, उसी प्रकार 'अधः' यह मन्त्र भी सार्थक होते हुए भी सन्दिग्ध अर्थ के कारण प्रमाण नहीं माना जा सकेगा । इस प्रकार उपयुक्त मन्त्र भी अप्रमाण ही है ।

कुछ मन्त्र ऐसे हैं जो विपरीत अर्थों का बोध कराते हैं, अतः अनुभव के सम्यक्त्व के अभाव के कारण उन्हें भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता । जैसे—'ओषधे त्रायस्वैनम्' (ओषधि, इसकी रक्षा कर) इस मन्त्र का विषय दर्भ (कुश नामक घास) है ('स्वधिते मैनं हिंसीः' (छुरे, इसकी हिंसा मत कर) । इस मन्त्र का विषय छुरा है । 'शृणोत ग्रावाणः' (पत्थरो, सुनो) इस वाक्य का विषय पत्थर

‘एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे’ (तै० सं० १।८।६।१), ‘सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्’ (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यनयोस्तु मन्त्रयोः ‘यावज्जीवमहं मौनी’ इति वाक्यवत् व्याघातबोधकत्वाद-प्रामाण्यम् ।

‘आप उन्दन्तु’ (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौर-काले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते । ‘शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं

है । इन मन्त्रों में दर्भ, छुरा और पत्थरों को चेतन पदार्थों के समान संबोधित किया गया है । क्योंकि सम्बोधित केवल चेतन पदार्थों को ही किया जा सकता है, अचेतन पदार्थों को नहीं, अतः उपर्युक्त मन्त्र भी दो चन्द्रमा हैं, इस वाक्य के समान विपरीत अर्थ के बोधक होने के कारण प्रभाव नहीं माने जा सकते—अर्थात् जिस प्रकार ‘द्वौ चन्द्रमसौ’ यह वाक्य दो चन्द्रों की उपस्थिति रूप विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण प्रमाण नहीं माना जाता, उसी प्रकार उपर्युक्त मन्त्रवाक्य भी व्यवहार-विरुद्ध अर्थ का बोध कराने के कारण प्रमाण नहीं माने जा सकते ।

कुछ मन्त्र परस्पर विरोधी अर्थों का बोध कराने के कारण भी प्रमाण नहीं हैं । उदाहरण के लिए ‘एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे’ (एकमात्र रुद्र ही है, दूसरा कोई नहीं) तथा ‘सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्’ (पृथ्वी पर जो हजारों हजार रुद्र हैं) ये दोनों मन्त्र वाक्य परस्पर विरोधी अर्थों को कहते हैं—एक में रुद्र को एक बतलाया गया है और दूसरे में उसकी संख्या हजारों-हजार कही गई है, इसलिए ये परस्पर विरुद्ध (व्याघात) अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण उसी प्रकार प्रमाण नहीं हैं, जिस प्रकार ‘यावज्जीवमहं मौनी’ (मैं जीवन भर मौनी हूँ) यह वाक्य—तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मौनी होना और ‘मैं मौनी हूँ’ यह उच्चारण करना एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध है, उसी प्रकार ‘रुद्र एक है’ रुद्र अनेक हैं, ये दोनों ही वाक्य अर्थ की दृष्टि से परस्पर विरुद्ध हैं । इनमें से किसी का भी अर्थ निश्चित नहीं है, इसीलिए इन्हें भी प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

मम' (वापस्तम्ब मन्त्रपाठ २।८।६) इति मन्त्रो विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुभिकाया वरवध्वाः शिरसि अवस्थानं ब्रूते । तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वाऽनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति । तस्मान्मन्त्रभागो न प्रमाणम् ।

अत्रोच्यते—अस्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेष्वबोधितः । तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति । अत एवात्र

कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जो केवल लोक में प्रसिद्ध अर्थ का अनुवाद (अपने शब्दों में कथन) मात्र करते हैं, ऐसे मन्त्रों में प्रमाण के दूसरे लक्षण का अनधिगतार्थ गन्तृत्व (अज्ञात अर्थ की बोधकता) लागू नहीं हो पाता । उदाहरण के लिए, 'आप उन्दन्तु' (जल गीला कर दें) यह मन्त्र यजमान के क्षौरकाल में जल के द्वारा सिर के भिगोने की बात कहता है । 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (हे माले मेरे मुख को सुशोभित करती हुई तू मेरे सिर पर आरूढ हो जा) यह मन्त्र विवाह के अवसर पर मङ्गलाचरण के लिए फूलों से बनी हुई माला की वर और वधू के सिर पर स्थिति को बतलाया है । क्षौरकाल में जल के द्वारा सिर का भीगना और विवाह के अवसर पर वर-वधू के सिर पर माला का स्थित होना, ये दोनों बातें लोक की हैं, लोक में प्रसिद्ध हैं । ऊपर के जिन दोनों मन्त्रों में इनका उल्लेख हुआ है, वे कोई नई बात, कोई अज्ञात अर्थ नहीं कहते, इसलिए प्रमाण के दूसरे लक्षण के अनुसार उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ तक मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद के मन्त्र भाग की प्रामाणिकता का प्रश्न है, उसे किसी भी रूप में प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता ।

सिद्धान्तपक्ष (वेद के मन्त्रभाग का प्रामाण्य है)

पर्वपक्षी के उपर्युक्त तर्कों के उत्तर में सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि 'अस्यक' आदि जिन मन्त्रों को पूर्वपक्षी ने अर्थ का अनवबोधक माना है, उनका अर्थ महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त नामक ग्रन्थ में समझाया है । यदि इन मन्त्रों के अर्थ का बोध निरुक्त से परिचित न रखने वाले किन्हीं व्यक्तियों को नहीं है तो इसमें मन्त्रों का कोई दोष नहीं है, यह तो वास्तव में उनका अपना ही दोष है । इसीलिए सन्दर्भ में यास्क ने इस लौकिक न्याय को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है—

लौकिकं न्यायमुदाहरन्ति—‘नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति’ (नि० १।१६) इति ।

‘अधःस्विदासीत्’ इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः । किं तर्हि ? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः । तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसंप्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वम् ‘अधः स्वित्’ इत्यनया वचोभङ्ग्योपन्यस्यति । स एवाभिप्राय उपरितनेषु ‘को अद्धा वेद’ (ऋ० १०।१२५।६) इत्यादिमन्त्रेषु स्पष्टीकृतः ।

‘यदि कोई अन्धा ठूठ को नहीं देखता तो इसमें उस ठूठ का कोई अपराध नहीं, यह तो पुरुष (अन्धे) का अपराध है ।’

इसी प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो कहा गया कि ‘अधःस्विदासीत्’ आदि मन्त्र सन्दिग्ध अर्थ के बोधक होने के कारण प्रमाण नहीं हैं, वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि ‘अधः’ मन्त्र सन्दिग्ध अर्थ के बोधन में प्रवृत्त ही नहीं है । इसके विपरीत वह संसार के कारणभूत पर वस्तु (परमात्मा) की अति गम्भीरता का निश्चय करने में ही प्रवृत्त हुआ है । इसीलिए गुरु, शास्त्र और सम्प्रदाय से रहित व्यक्तियों के लिए वह परम वस्तु दुर्बोध है, इस तथ्य को वेद ने ‘अधः स्वित्’ इस मन्त्र की वचनभङ्गी (कथन की विशिष्ट शैली) के द्वारा उपन्यस्त किया है । परमतत्त्व को इसी अतिगम्भीरता और दुर्बोधता के अभिप्राय को ही ऋग्वेद के परवर्ती (उक्त मन्त्र के बाद) मन्त्रों में भी स्पष्ट किया गया है—कहने का आशय यह है कि ‘अधः स्वित्’ मन्त्र के अर्थ को सन्दिग्ध उस स्थिति में कहा जा सकता था, जब स्पष्ट रूप से वह सन्देह का ही प्रतिपादन करता, किन्तु ऐसी बात नहीं है । मन्त्र में जो सन्देह दृष्टिगत होता है, वह कथन की एक विशिष्ट शैली है, जिसके अभाव में परमतत्त्व के परमगम्भीर्य और दुर्बोधत्व को व्यक्त नहीं किया जा सकता था ।

‘ओषधे’ आदि मन्त्रों में भी अचेतन के सम्बोधित किए जाने का जो आरोप लगाया गया है, उसका भी उत्तर यह है कि उक्त मन्त्रों में भी तत्तत् पदार्थों में स्थित उन पदार्थों के अभिमानी चेतन देवताओं को ही भिन्न-भिन्न नामों से संबोधित किया गया है—अर्थात् इन मन्त्रों में जो ‘ओषधि’ आदि नाम दृष्टिगत होते हैं वे भौतिक पदार्थों के न होकर उन पदार्थों के अभिमानी देवताओं के हैं और उनके (नामों) के द्वारा उन्हीं को सम्बोधित किया गया है, न कि पदार्थों को

ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानीदेवताः तेन तेन नास्मा संबोध्यन्ते । ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानीव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २।१।५) इति सूत्रे सूत्रिताः ।

एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्तिस्वीकारान्नास्ति परस्पर-व्याघातः ।

और इन अभिमानी देवताओं को भगवात् बादरायण (ब्रह्मसूत्रों के रचयिता) ने 'अभिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिम्याम्^१' इस सूत्र में सूचित किया है। भिन्न-भिन्न मन्त्रों में रुद्र के एक और अनेक होने की बात को लेकर वेद में जो परस्पर व्याघात या परस्पर विरुद्ध होने का दोष लगाया गया है, उसका उत्तर यह है कि रुद्र शक्तिशाली देवता है, इसलिए वह एक होता हुआ भी सहस्र रूपों को धारण कर सकता है। इस प्रकार वेद में परस्पर व्याघात दोष नहीं है।

जहाँ तक वेद के मन्त्रों के द्वारा लोक में प्रसिद्ध कार्यों के अनुवाद का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि जल आदि द्रव्यों के कारण सिर का गीला होना लोक में प्रसिद्ध है, किन्तु, यज्ञ में सिर को गीला करने से यज्ञ के अभिमानी देवता का जो अनुग्रह यजमान को प्राप्त होता है वह प्रसिद्ध नहीं है, अर्थात् अज्ञात है। 'आप उन्दन्तु' मन्त्र में इसी अज्ञात अर्थ

१. इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि श्रुतियों में जहाँ कहीं अचेतन पदार्थों को चेतन के समान आचरण करते देखा जाता है जैसे 'तं पंथि-व्यब्रवीत् 'आपो वा अकामयन्त' तो वहाँ उनका तात्पर्य उन अचेतन पदार्थों से न होकर उन पदार्थों के अभिमानी देवताओं से हुआ करता है। इसका कारण है विशेष और अनुगति। विशेष, का अर्थ है विशेषण सभी देवता विशेषण हैं और अचेतन पदार्थ विशेष्य। विशेष्य विशेषण के अभाव में नहीं रह सकता, इसलिए विशेष्यभूत अचेतन पदार्थों से विशेषणभूत देवताओं का ही ग्रहण होता है। अनुगति का अर्थ है अनुप्रवेश। सभी देवता अचेतन पदार्थों में अनुप्रविष्ट रहते हैं, इसलिए भी अचेतन पदार्थों का उच्चारण करने पर उनमें अनुप्रविष्ट देवताओं का ही ग्रहण होता है। अनुप्रवेश के उदाहरण के रूप में निम्नलिखित वाक्यों को लिया जा सकता है—

१. 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' २. 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' १

जलादिद्वयेण शिरःवलेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानुग्रहस्याप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेनाज्ञातार्थज्ञापकत्वम् ।

ततो लक्षणसद्भवादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम् ।

एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिः मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत् (जै० सू० १।२।३१-४५) । तानि च सूत्राणि क्रमेणोदाहृत्य व्याख्यास्यामः । तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

‘तदर्थशास्त्रात्’ (जै० १।२।३१) इति ।

यस्यार्थस्याभिधाने समर्थो मन्त्रः स एवाभिधेयो यस्य शास्त्रस्य ब्राह्मणवाक्यस्य तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम् । तस्मात् शास्त्रात् अविव-

को ही विषय बनाया गया है, इसलिए वह अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होने के कारण प्रमाण के दूसरे लक्षण की दृष्टि से भी प्रमाण है ।

इस प्रकार प्रमाण के उपर्युक्त दोनों लक्षणों के वेद के ऊपर पूर्णतया लागू हो जाने के कारण उसके मन्त्रभाग का प्रामाण्य निश्चित रूप से है, यह बात सिद्ध हो गई ।

इसी (उपर्युक्त) अभिप्राय से भगवान् जैमिनी ने मीमांसा सूत्रों के मन्त्राधिकरण में वैदिक मन्त्रों का अपना विवक्षित अर्थ है, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए सूत्रों की रचना की है । हम यहाँ उन सूत्रों को (पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के) क्रम से उद्धृत कर उनकी व्याख्या करेंगे । भगवान् जैमिनि पहले पूर्वपक्ष को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

पूर्वपक्ष (वैदिक मन्त्रों का अपना कोई विवक्षित अर्थ नहीं है) ‘उस (मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित किए जाने वाले) अर्थ के (प्रतिपादक) शास्त्र अर्थात् ब्राह्मण-वाक्य से ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है ।’

जिस अर्थ का प्रतिपादन करने में वेद का मन्त्र समर्थ होता है, वह अर्थ ही जिसका प्रतिपाद्य है, उस शास्त्र अर्थात् ब्राह्मण-वाक्य को ‘तदर्थशास्त्र’ कहते हैं—भाव यह है कि सूत्र के मूलशब्द ‘तदर्थशास्त्र’ में तीन अंश हैं—‘तत्’ ‘अर्थ’ और ‘शास्त्र’ इनमें से ‘तत्’ पद उसका विशेषण है और ‘उस’ अर्थ की ओर संकेत करता है, जिसका प्रतिपादन वेद का मन्त्र करता है—इस प्रकार सिम्मलित ‘तदर्थ’ शब्द का अर्थ हुआ ‘वेद के द्वारा प्रतिपादित किया जानेवाला’

क्षितार्थो मन्त्रः इत्यवगम्यते । तथा हि—‘उरु प्रथस्व’ (तै०सं० १।१।८) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते ‘पुरोडाशं प्रथयति’ (तै० ब्रा० ३।२।८।४) इति ब्राह्मणेनापि तदेवाभिधीयते । तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थबोधनाय प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात् । मन्त्रस्याविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगबोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम् । तस्मात् मन्त्राः उच्चारणेनैव अनुष्ठाने उपकुर्वन्ति ।

अर्थ’ इस ‘तदर्थ’ का जो शास्त्रप्रतिपादक अर्थात् ब्राह्मणवाक्य है, वही यहाँ ‘तदर्थशास्त्र’ से अभिप्रेत है । भाव को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि किसी वैदिक मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को ही प्रतिपादित करनेवाले ब्राह्मणवाक्य को ‘तदर्थशास्त्र’ कहते हैं । इस प्रकार के ब्राह्मण वाक्यों के अस्तित्व से ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वेद के मन्त्र निरर्थक हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि जिस अर्थ को वेद के मन्त्र कहते हैं, यदि उसी अर्थ का प्रतिपादन ब्राह्मणवाक्य भी करते हैं तो निश्चय ही वेद के मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है । क्योंकि यदि उनका कोई अर्थ होता तो ब्राह्मणवाक्यों को उस अर्थ को फिर से कहने की आवश्यकता ही क्या थी, उदाहरण के लिए तैत्तिरीय संहिता का ‘उरुप्रथस्व’ यह मन्त्र (आप को दृष्टि में) पुरोडाश (यज्ञ के निमित्त बनाई गई मोटी रोटी) के प्रथन अर्थात् फैलाव का प्रतिपादन करता है । परन्तु इसी बात को तैत्तिरीय ब्राह्मण का ‘पुरोडाशं प्रथयति’ यह वाक्य भी कहता है । यदि यहाँ यह कहा जाए कि उक्त अर्थ की प्रतीति तो मन्त्रवाक्य से ही होती है तो उस स्थिति में उपर्युक्त ब्राह्मणवाक्य निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति ही उक्त अर्थ के बोध के निमित्त हुई है । इसके विपरीत यदि हम यह मान लें कि मन्त्र का कोई विवक्षित अर्थ नहीं होता तो उस स्थिति में उक्त ब्राह्मणवाक्य का उपयोग मन्त्र के विनियोग का बोध कराने के लिए हुआ है । यह बात स्वयं सिद्ध हो जाएगी तथा कोई भी ब्राह्मणवाक्य निरर्थक न हो सकेगा । इससे यही बात सिद्ध होती है कि मन्त्र स्वयं में निरर्थक हैं और वे केवल अपने उच्चारण के द्वारा ही याज्ञिक अनुष्ठान में उपकार करते हैं ।

ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत । अर्थाभि-
धायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते । तस्मात् ब्राह्मणस्यानुवादकत्वमभ्युपेत्यापि
मन्त्रस्याभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

‘वाक्यनियमात्’ (जै० १।२।३२) इति ।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद् (ऋ० ८।४४।१६) इत्येवमेव वाक्यं पठित-
व्यमिति मन्त्रे नियम उपलभ्यते । अथप्रत्यायनं तु मूर्द्धाग्निरेत्येवं

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि वैदिक मन्त्रों को केवल उच्चारण के लिए मानने पर उनके प्रयोजन के रूप में अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि संसार की कोई भी वस्तु बिना प्रयोजन के नहीं होती । इसके विपरीत यदि उनको अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला मान लिया जाए तो दृष्ट (प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत होनेवाले) प्रयोजन की उपलब्धि हो जाती है । क्योंकि दृष्ट प्रयोजन की उपस्थिति में अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना उचित नहीं कही जाती (दृष्टे फले संभवति नादृष्ट परिकल्पना) इसलिए ब्राह्मणवाक्य को मन्त्र के अर्थ का अनुवादक स्वीकार करके भी मन्त्रों को अपने अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला ही मानना चाहिए । कहने का तात्पर्य यह कि चाहे ब्राह्मणवाक्य वेदमन्त्रों के अर्थ को अपने शब्दों में उपस्थित कर करते हैं, इसके अतिरिक्त उनका अपना कोई अर्थ नहीं होता, यही सिद्धान्त क्यों न स्वीकार करना पड़े, परन्तु मन्त्रों का स्वार्थ बोधकत्व तो मानना ही चाहिए । इससे अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना से बचा जा सकेगा । इस शङ्का का समाधान निम्नलिखित सूत्र में किया गया है—

वैदिक मन्त्रों के वाक्यों के पाठ के उनमें आए पदों के क्रम से ही होने के नियम से ही यह सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता ।

उदाहरण के लिए—‘अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्’ इस मन्त्र को उसमें आए पदों (अग्निः + मूर्द्धा + दिवः + ककुद्) के क्रम से पढ़ना चाहिए, ऐसा नियम मन्त्र के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है । जहाँ तक अर्थबोध का प्रश्न है, वह तो ‘मूर्द्धाग्निः’ इस विपरीत क्रम से पाठ करने पर भी होता है । इससे यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों का न तो कोई अर्थ होता है और न उसका बोध करना उनका

व्युत्क्रमपाठेष्वपि भवत्येव । तस्मात् नियतपाठक्रमसाफल्ययोच्चारणमेव मन्त्र प्रयोजनम् ।

ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधार्थ एव इत्याशङ्कः तत्र दोषान्तरं सूत्रयति—

‘बुद्धशास्त्रात्’ (जै० १।२।३३) इति ।

‘अग्नीदग्नीन् विहर’ (तै०सं०६।३।१।२) इति प्रैषमन्त्रः प्रयोगकाले पठ्यते । तच्च अग्निविहरणादिकं आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वकृत् व्यत्वेन बुद्धम् । तस्य च बुद्धस्यार्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासनमनर्थकम् । न हि सोपानत्के पादे पुनरपि उपानहं प्रतिमुञ्चति ।

प्रयोजन ही है । वास्तव में उनका प्रयोजन तो निश्चित किए गए पाठक्रम की सफलता के लिए उनका उच्चारण करना ही है, अर्थात् मन्त्रों के यथास्थित पदों के क्रम से पढ़ने के नियम से यही ज्ञात होता है कि वे किसी अर्थ की प्रतीति रूपी दृष्ट प्रयोजन से प्रेरित न होकर उच्चारणजन्य किंचित अदृश्य प्रयोजन को ही सामने रखकर प्रवृत्त हुए हैं !

यहाँ कोई यह कह सकता है कि मन्त्रों का पदक्रम के अनुसार पाठ करने का जो नियम है, उसका प्रयोजन तो अदृष्ट को माना जा सकता है, किन्तु मन्त्र पाठ का प्रयोजन अर्थ का बोध है, यही मानना होगा, ऐसा इसलिए कि अर्थ के अभाव में उसका किसी कार्य में विनियोग न हो सकेगा । इस प्रकार की आशंका कर सिद्धान्तपक्षी के मत में दूसरे दोष को निम्नलिखित सूत्र के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

‘वैदिक मन्त्रों के द्वारा बुद्ध अर्थात् पहले से ही सात बातों का पुनः शासन करने से यह ज्ञात होता है कि मन्त्रों का अपना अर्थ नहीं है’ ।

हम तैत्तिरीय संहिता के ‘अग्नीदग्नीन् विहर’ मन्त्रांश का उदाहरण के रूप में ले सकते हैं । इसका अर्थ है—‘हे अग्नीद (आग्नीध्र), अग्नियों का विहरण कर अर्थात् उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा । यह प्रैष अर्थात् आदेशात्मक मन्त्र है और इसे प्रयोगकाल में पढ़ा जाता है । इस मन्त्र में आग्नीध्र (मण्डप में यज्ञीय अग्नि का आधान करनेवाला पुरोहित) के लिए जिस अग्निविहरण

ननु बुद्धस्याप्यर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मारण
मस्तु इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

‘अविद्यमानवचनात्’ (जै० १।२।३४) इति ।

‘चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य’ (ऋ०
४।५।८।३) इति मन्त्र आम्नायते । न खलु चतुःशृङ्गत्वाद्युपेतं किञ्चित्
यज्ञसाधनं विद्यते यन्मन्त्रपाठेनानुस्मर्येत ।

(अग्नि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना) का आदेश किया गया है,
उसका ज्ञान उसने अपने अध्ययनकाल में ही अपने कर्त्तव्य के रूप में कर लिया
होता है । इस प्रकार जो बात उसे बताई जा रही है, उसका ज्ञान उसको पहले
ही हो चुका है । ऐसी स्थिति में उसका (ज्ञात अर्थ का) इस मन्त्र के द्वारा
पुनः शासन करना निरर्थक है । अज्ञात अर्थ का ही शासन किया जाता है, ज्ञात
का नहीं । कोई भी व्यक्ति उपानह (जूता) से युक्त पैर में दूसरा उपानह नहीं
पहनाता । कहने का तात्पर्य यह कि जूता वाले पैर में जूता पहनाने के ही समान
ज्ञात अर्थ को ज्ञात करने का शासन करना निरर्थक है । इससे यह निष्कर्ष
निकला कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता, वे केवल उच्चारणार्थक होते हैं ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी की ओर से यह कहा जा सकता है कि जो अर्थ ज्ञात
है वह भी प्रमादवश कभी विस्मृत हो सकता है । वह विस्मृत न हो इसलिए
मन्त्र के द्वारा उसका स्मरण करा दिया जाता है । इस उत्तर की कल्पना करके
पूर्वपक्षी दूसरा दोष सूत्र रूप में उपस्थित करता है—

‘जो वस्तुएँ संसार में विद्यमान नहीं हैं, उनका मन्त्रों द्वारा कथन किए जाने
के कारण यह सिद्ध है कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं ।’

उदाहरण के लिए ‘चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो
अस्य’ यह मन्त्र ऋग्वेद में कहा गया है इसका अर्थ है ‘इसके चार सींगें, तीन

ननु ईदृशी काचिद् वेवता स्यादित्याशङ्क्य अयं दोषं सूत्रयति—

‘अचेतनेऽर्थबन्धनात्’ (जै० १।२।३५) इति ।

‘ओषधं त्रायस्वेनम्’, ‘शृणोत ग्रावाणः’ इत्यादावचेतने द्रव्ये चेतनो-

चितरक्षणश्रवणाद्यर्थं बध्नाति । स चायुक्तः ।

पैर, दो सिर और सात हाथ हैं’ । यज्ञ की साधनभूत ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो, इस मन्त्र के द्वारा बताए गए चार सींग आदि से युक्त हो तथा मन्त्र जिसका स्मरण करा रहा हो भाव यह है कि विद्यमान वस्तु का ही स्मरण कराया जा सकता है, अविद्यमान का नहीं । मन्त्र में जिस विचित्र वस्तु की चर्चा की गई है, वह संसार में कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं, अतः मन्त्र के द्वारा उसके स्मरण कराए जाने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता । स्पष्ट है कि मन्त्रों में ऐसे पदार्थों के उल्लेख से उनकी निरर्थकता ही सिद्ध होती है ।

उपर्युक्त दोष के सम्बन्ध में कोई यह कह सकता है कि संभव है, कोई ऐसा देवता हो जिसका अनुस्मरण ‘चत्वारि’...मन्त्र के द्वारा कराया गया हो । ऐसी स्थिति में उक्त दोष न हो सकेगा । इस आशङ्का के कारण पूर्वपक्षी अन्य दोष को सूत्रित करता है—

‘वैदिक मन्त्रों में अचेतन पदार्थों के साथ चेतन पदार्थों के अर्थों का निबन्धन किए जाने से यह सूचित होता है कि मन्त्र अर्थहीन है ।

उदाहरणार्थ ‘ओषधे (ओषधी ? इसकी रक्षा कर)’ त्रायस्वेनम् ‘शृणोत ग्रावाणः’ (पत्थरों ? सुनो) इत्यादि मन्त्रों में ओषधि और पत्थर जैसे अचेतन पदार्थों के चेतन पदार्थों के योग्य रक्षण और श्रवण जैसे अर्थों के सम्बन्ध को दिखाया गया है । अचेतन पदार्थ चेतन पदार्थों की सी क्रिया करने में सर्वथा असमर्थ है । इसलिए ऐसा दिखाया जाना अनुचित है । स्पष्ट है कि इस प्रकार के उल्लेखों से यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों में अर्थबोधकता नहीं है ।

ननु अभिमानिव्यपदेश इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्या-
द्यभिमानीचेतनदेवतात्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

‘अर्थविप्रतिषेधात्’ (जै० १।२।३६) इति ।

‘अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्’ (ऋ० १।८९।१०) इति मन्त्रः
आम्नायते । यदेव द्यौस्तदेव अन्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः । एवम्
‘एक एव रुद्रः’ (तै० सं० १।८।६।१), ‘सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः’
(तै० सं० ४।५।१।१) इत्यादिकमपि उदाहृतव्यम् ।

इस दोष के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि व्यासप्रणीत शास्त्र (वाद-
रायणसूत्र—वेदान्तसूत्र) के ‘अभिमानिव्यपदेशो विशेषानुगतमित्याम्’ इस सूत्र में
अचेतन पदार्थों से तदभिमानी देवताओं का ग्रहण किया गया है । इसी अघार पर
प्रस्तुत सन्दर्भ में भी ओषधि और पत्थर शब्दों से अचेतन पदार्थों के स्थान पर
उनके अभिमानी देवताओं की विवक्षा मान लेने पर उक्त दोष संभव न हो
सकेगा । इस तथ्य की आशङ्का करके अन्य दोष को सूत्रित किया जा रहा है—

‘वैदिक मन्त्रों के द्वारा प्रतिपादित किए जानेवाले अर्थों के पारस्परिक भेद
को देखने से यह सिद्ध होता है कि मन्त्र निरर्थक हैं ।

उदाहरणार्थ—‘अदितिर्द्यौरन्तरिक्षम्’ (अदिति ही भूलोक है, अदिति ही अन्तरिक्ष
है) यह मन्त्र ऋग्वेद में कहा गया है । इसमें बताया गया है कि जो (अदिति)
भूलोक है वही अन्तरिक्ष है । यह अर्थ परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि एक ही वस्तु
दो कैसे हो सकती है । ठीक इसी प्रकार एक एव रुद्रः (रुद्र एक ही है) और
‘सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः’ (हजारों हजार जो रुद्र हैं) इत्यादि मन्त्रों को भी
उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि इनमें रुद्र को एक
और अनेक दोनों बताया गया है जोकि परस्पर विरुद्ध है । तात्पर्य यह कि अर्थ के
इस विरोध को देखने से स्पष्ट हो जाता है, कि वैदिक मन्त्र अर्थहीन हैं ।

ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवत् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते । एवमेकएष्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्यात् बहुमूर्तिस्वीकारो-
ज्जु । ततो नार्थविप्रतिषेधः इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

‘स्वाध्यायवदवचनात्’ (जै० १।२।३७) इति ।

पूर्णिका नाम काचिद् योषिदवघातं करोति । तत्समीपे माणवकः
स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचित् अवघातमन्त्रमधीते । न च तस्यार्थप्रकाशन-
विवक्षा अस्ति, प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्यापठ्यमानत्वात् । अक्षर-

इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्षी कह सकता है कि जिस प्रकार ‘त्वमेव माता च पिता त्वमेव’ में एक ही ईश्वर को माता और पिता सब कुछ माना गया है और वहाँ कोई परस्परिक विरोध नहीं होता, उसी प्रकार ‘अदितिः’ इस मन्त्र में अदिति की ही अन्तरिक्ष आदि के रूप में स्तुति की गई है । अतः इसमें किसी प्रकार के विरोध की संभावना नहीं । जहाँ तक ‘एक एव रुद्रः’ इत्यादि मन्त्रों में रुद्र के एकत्व और अनेकत्व को लेकर होनेवाले विरोध का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि रुद्र एक होता हुआ भी योग की सामर्थ्य से अनेक रूपों को स्वीकार कर सकता है । फलतः इसमें भी कोई विरोध दृष्टिगत नहीं होता । इस आशङ्का को दृष्टिपथ में रखकर पूर्वपक्षी यह दूसरा दोष प्रस्तुत करता है—

स्वाध्याय-काल के समान कर्मकाल में भी मन्त्रों के द्वारा अपने अर्थ का कथन न करने से यह सिद्ध होता है कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है ।

सूत्र के भाव को यों हृदयंगम करना चाहिए । पूर्णिका नामक कोई स्त्री घान कूट रही थी । ठीक उसी समय एक माणवक उसके समीप में बैठा हुआ स्वाध्याय के निमित्त अवघात मन्त्र का पाठ कर रहा था, यद्यपि इस अवसर पर स्त्री के द्वारा किये जानेवाले अवघात (घान की कुटाई) और माणवक के द्वारा किये जानेवाले अवघातमन्त्र के पाठ में कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं था क्योंकि मुसल के प्रत्येक प्रहार के साथ उसका पाठ नहीं हो रहा था । माणवक तो केवल अक्षर ग्रहण करने के लिए उस मन्त्र और अन्य मन्त्रों का साथ-साथ अभ्यास

ग्रहणायैव तं मन्त्रमन्यःश्चमन्त्रानध्यस्यति । तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽपि अवघातमन्त्रो यथा पूर्णिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते तथा कर्मकालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति ।

ननु तत्र माणवकस्य अर्थे विवक्षा नास्ति । पूर्णिकापि अवबोद्धुमक्षमा । कर्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, बोधश्च संभवति । इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

‘अविज्ञेयात्’ (जै० १।२।३८) ।

कर रहा था । तात्पर्य यह कि माणवक के स्वाध्याय काल में उसके द्वारा उच्चरित किया जानेवाला अवघातमन्त्र जिस प्रकार पूर्णिका के लिए किसी अर्थ को नहीं कहता, उसी प्रकार कर्म (यज्ञ) के समय में भी वह अपने अर्थ को प्रकट नहीं करेगा, भाव यह कि जब मन्त्र का अर्थ स्वाध्याय काल में कोई नहीं जान पाता तो यज्ञ के अवसर पर ही उससे अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकेगी, स्पष्ट है कि मन्त्र निरर्थक हैं ।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अवघात मन्त्र का पाठ करनेवाले माणवक की अर्थ में विवक्षा ही नहीं थी, क्योंकि उसके पाठ का उद्देश्य केवल अक्षर-ग्रहण था और पूर्णिका भी अशिक्षित तथा कार्यान्तर में आसक्त होने के कारण मन्त्र के अर्थ को ही समझने में असमर्थ थी । इसलिए स्वाध्यायकाल में मन्त्र के द्वारा अर्थ का कथन न करना दोष नहीं माना जा सकता । इसके विपरीत यज्ञ में अध्वर्यु को अर्थ की विवक्षा होती है और वेद वेदाङ्गविद होने के कारण उसको उसका बोध भी होता है । ऐसी स्थिति में कर्मकाल में मन्त्रों की अर्थ बोधकता है ही । इस आशङ्का को ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी अन्य दोष उपस्थित करता है ।

‘अधिकांश मन्त्रों के अर्थ के अज्ञेय होने से यह स्पष्ट कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है ।’

केषांचिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञा न शक्यतुते । तद् यथा—‘अस्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे’ प्रत्येको मन्त्रः । ‘सृष्येव जर्भरी तुर्फरीतू’ इयपरो मन्त्रः ।

ननु ईदृशमन्त्रार्थबोधायैव निगमनिरुक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानि इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

‘अनित्यसंयोगान् मन्त्रानर्थक्यम्’ (जे० १।२।३९) इति ।

‘किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु’ (ऋ० ३।५३।१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आस्तातः । तथा नैचाशाखं नाम नगरं, प्रमगन्दो नाम राजा

वेद के कुछ मन्त्रों के अर्थ को जाना नहीं जा सकता । जैसे—‘अस्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे’ यह एक मन्त्र है । ‘सृष्येव जर्भरी तुर्फरीतू’ यह दूसरा मन्त्र है । इन मन्त्रों का अर्थ कोई नहीं जानता । इससे मन्त्र निरर्थक हैं, यही सिद्ध होता है ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी यह कह सकता है कि इस प्रकार के दुर्ज्ञेय अर्थवाले मन्त्रों के अर्थ को समझाने के लिए ही निगम (संभवतः ब्राह्मणग्रन्थ, क्योंकि उनमें वेद के कई मन्त्रों की व्याख्या उपलब्ध होती है) निरुक्त, और व्याकरण शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई है, तात्पर्य यह कि ये मन्त्र तभी तक अज्ञेय थे जबतक उपर्युक्त शास्त्रों का आरम्भ नहीं हुआ था । इनके प्रारम्भ हो जाने पर इस प्रकार की कोई समस्या नहीं रह गयी है, इस लिए मन्त्रों का अर्थ है । ऐसी आशंका करके पूर्वपक्षी अन्य दोष प्रस्तुत करता है—

‘वेद के मन्त्रों के साथ अनित्य वस्तुओं का संयोग होने से यह सिद्ध होता है कि मन्त्र अर्थहीन हैं’ ।

उदाहरण के लिए—‘किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु’ (वे लोग कीकट में क्या करते हैं) इस मन्त्र में कीकट नामक जनपद को कहा गया है । इसके अतिरिक्त ‘नैचा-शाख’ नामक नगर और प्रमगन्द नामक राजा का भी उल्लेख किया गया है ।

इत्येतेष्वर्थान्नित्या आम्नाताः । तथा च सति प्राक् प्रसंगंदात् नायं संज्ञो भूतपूर्व इति गम्यते ।

तदेवमेतैः तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति किंतु उच्चारणाददृष्टार्था एवेति पूर्वपक्षः ।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—

‘अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः’ (जै० १।२।४०) इति ।

तुशब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति । क्रियाकारकसम्बन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः । तथा सति यथा

ये सभी—कीकट, नैचाशाख और प्रमगन्द-अनित्य वस्तुएँ हैं । इन वस्तुओं के उल्लेख से यह विदित होता है कि यह मन्त्र राजा प्रमगन्द के पहले नहीं था, अपितु बाद में लिखा गया । इस प्रकार ‘तदर्थशास्त्र’ आदि हेतुओं से यह स्पष्ट है कि वेद के मन्त्रों में अपने अर्थ की बोधकता नहीं है वे उच्चारण के द्वारा केवल अदृष्ट प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए हैं । यह पूर्वपक्ष है ।

मन्त्रों के अर्थ सम्बन्धी विचार के इस अवसर पर अब (महर्षि जैमिनि) सिद्धान्तपक्ष को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

सिद्धान्तपक्ष—(किसी भी दोष के न होने से मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा है)

‘लोक और वेद के वाक्यार्थों में कोई अन्तर नहीं है ।

इस सूत्र में प्रयुक्त ‘तु’ शब्द इस सिद्धान्त का निवारण करता है कि वैदिक मन्त्र अदृष्ट प्रयोजन के लिए उच्चरितमात्र होते हैं । इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह हुआ, क्रिया और कारक के सम्बन्ध से प्रतीत होनेवाला वाक्यार्थ लोक और वेद में समान होता है—अर्थात् जिस प्रकार लोक में क्रिया और कारक के पारस्परिक सम्बन्ध से वाक्यार्थ का बोध होता है उसी प्रकार वेद में भी, दोनों में कोई अन्तर नहीं है । ऐसा होने पर जिस प्रकार लोक में अर्थ की प्रतीति के लिए ही वाक्य का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के समय भी

लोकेऽर्थाप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्यते तथा वैदिकयागप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम् मन्त्रेण प्रकाशितस्तु अर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते, न तु अप्रकाशितः । तस्मात् मन्त्रोच्चारणस्यार्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम् ।

ननु 'अभ्रिरसि नारिरसि' (वा० सं० ११।१०) इत्मारभ्य 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाददे' (तै० सं० ४।१।१३-४) इति मन्त्र आम्नातः । तेनैव मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्रयादाने पुनर्ब्राह्मणे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (तै० सं० ५।१।१४) इति विधीयते । तदेतद् विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—

‘गुणार्थेन पुनः श्रुतिः’ (जै० १।२।४१) इति ।

वैदिक वाक्यों के अर्थ होते हैं, ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि अनुष्ठान उसी अर्थ का किया जाता है । जो वेद मन्त्र के द्वारा प्रकाशित कर दिया गया होता है, अप्रकाशित का नहीं । इसलिए मन्त्रों के उच्चारण का अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन ही है, अदृष्ट नहीं जैसा कि पूर्वपक्षी का कथन है ।

इस पर पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि 'अभ्रिरसि नारिरसि' (तुम अभ्रि कुदाल हो शत्रु नहीं हो) यहाँ से लेकर 'त्रैष्टुभेन त्वाच्छन्दसाददे' (मैं तुम्हें त्रिष्टुम् छन्द के द्वारा ग्रहण करता हूँ) यहाँ तक एक मन्त्र कहा गया है । कुदाल के ग्रहण की प्रतीति वेद के इसी मन्त्र के द्वारा हो जाने पर भी तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (उस कुदाल को चार मन्त्रों के द्वारा ग्रहण करता है) इस प्रकार पुनः कुदाल को ग्रहण करने का विधान किया गया है । यह विधान सिद्धान्तपक्ष में व्यर्थ है, क्योंकि यदि वेदमन्त्रों का कोई अर्थ है तो ब्राह्मणों के द्वारा उस अर्थ के पुनः कथन की क्या आवश्यकता । किन्तु ब्राह्मण इस प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है, कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं । इस प्रकार की आशंका को कल्पना कर उसका उत्तर देते हैं ।

‘ब्राह्मणों में मन्त्रों के अर्थ का पुनः श्रवण गुण विधान के लिए हुआ है ।

वेद मन्त्र के द्वारा जिस कुदाल के ग्रहण रूप अर्थ की प्रतीति कराई जा चुकी थी, उसका ब्राह्मण में जो पुनः श्रवण (फिर से कथन) किया गया है उसका

मन्त्रेण प्रतीतस्यैवार्थस्य ब्राह्मणे यत्पुनःश्रवणं तदेतच्चतुः संख्या-
लक्षणगुणविधानार्थत्वेनोपयुज्यते । एतस्य विधानस्याभावे चतुर्णां
मंत्राणां मध्ये येन केनाप्येकेन अभिरादीयेत ।

ननु 'इमामगृणन् रशनामृतस्य' (वा० सं० २२।२) 'इत्यश्वा-
भिधानीमादत्ते' (तै० सं० ५।१।२।१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य
रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मणवाक्यं विनियोजकमास्नायते । तदेतत् त्वन्मते
व्यर्थमित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति ।

'परिसंख्या' (जै० १।२।४२) इति ।

उपयोग चार की संख्या रूप गुण के विधान के रूप में है । यदि इस प्रकार
विधान न किया होता तो चार मन्त्रों में से जिस किसी भी मन्त्र के द्वारा कुदाल
का ग्रहण हो जाता—भाव यह है कि वेद में कुदाल का ग्रहण केवल मन्त्र के
द्वारा किया गया है जबकि ब्राह्मण में चार मन्त्रों के द्वारा यह एक के स्थान पर
चार का विधान ब्राह्मण का एक गुण (विशेष) विधान है । इस विधान का
प्रयोजन यह है कि ऐसा करने पर अभि (कुदाल) का आदान चार ही मन्त्रों के
द्वारा हो जाएगा, केवल एक से नहीं जो कि इस विधान के न होने पर होता ।
स्पष्ट है कि ब्राह्मण व्यर्थ नहीं है ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्य में पुनः श्रवण का
जो कारण दिया गया है, वह उचित हो सकता है, किन्तु यह बात सभी ब्राह्मण
वाक्यों के लिए सही नहीं है । कुछ में विशिष्ट गुणाधान के अभाव में भी पुनः
श्रवण पाया जाता है । उदाहरण के लिए 'इमामगृणन् रशनामृतस्य' (घोड़े की
इस लगाम को ग्रहण किया) इस मन्त्र के सामर्थ्य के द्वारा ही रशना (लगाम)
का आदान प्राप्त हो चुका था, किन्तु पुनः उसके विनियोग का बतलानेवाले
इत्यश्वाभिधानीमादत्त (इसके द्वारा अश्व की लगाम को ग्रहण करे) इस ब्राह्मण
वाक्य को कहा गया है । स्पष्ट है कि ब्राह्मणवाक्य में कोई विशेष बात नहीं
कही गई है, जिसके लिए पुनः रशनादान के औचित्य को सिद्ध किया जा सके ।
इस प्रकार आप (सिद्धान्तपक्षी) के मत में ब्राह्मणव्यर्थ हो जाता है । इस
आशंका के उत्तर को प्रस्तुत करते हैं—

'ब्राह्मणवाक्य में जिसका उल्लेख किया गया है' उससे भिन्न की परिसंख्या
अर्थात् निषेध करने के लिए ब्राह्मणवाक्य की सार्थकता है,

‘गर्दभाभिधानीं नादत्ते’ इति निषेधः परिसंख्या । तदर्थमिदं ब्राह्मण-
वाक्यम् ।

ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः—‘आदत्ते’ इति शब्दो
रशनादानलक्षणं स्वार्थं जह्यात् । तन्निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य

उदाहरण के लिए ‘अश्वाभिधानीमादत्ते’ (घोड़े की लगाम को ग्रहण करे)
इस ब्राह्मणवाक्य से यह तथ्य स्वतः सिद्ध है कि—‘गर्दभाभिधानीं नादत्ते’
(गर्दन) अथवा उस जैसे अन्य किसी भी पशु की लगाम को ग्रहण न करे । यह
एक के उल्लेख के द्वारा अन्य के निषेध की जो विधि है उसे ही परिसंख्या^१ कहते
हैं । जिन ब्राह्मणों में किसी विशेष बात के बिना भी वैदिक मन्त्रों के अर्थ का
ग्रहण किया गया होता है, उनका उपयोग इसी परिसंख्या अर्थात् अन्य के निषेध
में होता है, इसलिए वे व्यर्थ नहीं हैं ।

पूर्वपक्षी की ओर से सिद्धान्तपक्षी के उपर्युक्त उत्तर पर यह कहा जा सकता
है कि ‘इमाम्’ इस ब्राह्मण वाक्य को परिसंख्या के निमित्त सार्थक तभी कहा जा
सकता है, जब वैसा मानने पर कोई दोष न आता हो । किन्तु परिसंख्या में श्रुति-
हानि, अश्रुतकल्पना और प्राप्तबोध ये तीन दोष सदैव रहते हैं । वे प्रस्तुत में भी
रहेंगे । जैसे—‘अश्वाभिधानीमादत्ते’ इस वाक्य में स्थित ‘आदत्ते’ यह शब्द अपने

१. स्वर्ग की कामना करनेवाले को यज्ञ करना चाहिए, इस प्रकार के प्रवर्तना-
परक वैदिक वाक्यों को मीमांसा की भाषा में विधि कहते हैं । परिसंख्या
मीमांसा की तीन विधियों में अन्यतम है । अन्य दो विधियों के साथ इसके
स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए । तीन विधियाँ हैं—अपूर्वविधि,
नियमविधि और परिसंख्याविधि । इनमें से अपूर्वविधि उस विधि को
कहते हैं जो अन्य प्रमाणों (प्रत्यक्ष और अनुमान आदि) के द्वारा अप्राप्त
(न जाने गए) अर्थ को प्राप्त कराती है—‘प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको
विधिरपूर्वविधिः जैसे—‘भोक्षकामः पुरुषः’ ।

कल्प्येत । रक्षन्तावशामान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आशानं बाध्येत
इति त्रयो दोषाः । मैवम् । गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वात् । तथाहि तत्पक्षे

मुख्य अर्थ घोड़े की रशना (लगाम) के आदान को छोड़ देता है, क्योंकि वाक्य के तात्पर्यभूत अर्थ 'गर्दभ की रशना को न पकड़े' में वह नहीं है । फलतः श्रुतहानि (विद्यमान या सुनाई पड़नेवाले अर्थ की हानि) दोष आ जाता है । इसके अतिरिक्त 'आदत्ते' शब्द अपने मुख्य अर्थ रशनादान के निषेध रूप दूसरे अर्थ की कल्पना करता है, क्योंकि उक्त तात्पर्यभूत अर्थ में वह परमात्मानमुपासीत' (मोक्ष की कामना वाला पुरुष परमात्मा की उपासना करे) इस वाक्य में मोक्ष साध्य और परमात्मा उसका साधन है । इस तथ्य का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा हुआ है और नहीं अनुमान के द्वारा । फिर भी उक्त वाक्य को पढ़कर हमें इसका ज्ञान होता ही है । यह ज्ञान जिस विधि से हुआ उसे ही अपूर्वविधि कहते हैं । 'नियमविधि' से तात्पर्य उस विधि से है जो पक्ष में अप्राप्त अर्थ का ज्ञान कराती है । 'पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' । दूसरे शब्दों में किसी क्रिया को सिद्ध करनेवाले अनेक साधनों में से एक में क्रिया की सिद्धि को नियमित या सीमित कर देनेवाली विधि को 'नियमविधि कहते हैं । 'ब्रीहीतवहन्ति' (धान को कूटे) इस उदाहरण को लिया जा सकता है । इस वाक्य में प्रयोजन है ब्रीहि अर्थात् धान को भूसी से अलग करना । इस प्रयोजन की सिद्धि नाखून के द्वारा एक-एक धान से भूसी को अलग करने से भी हो सकती है और सामूहिक रूप से उन्हें कूटने से भी । इस प्रकार नख विदलन (नाखून से भूसी को अलग करना) और अवघात (कूटना) ये दोनों भूसी को अलग करने रूप कार्य के साधक हैं । प्रस्तुत में क्रिया की सिद्धि अवघात में सीमित कर दी गयी है अर्थात् भूसी को अलग करने की क्रिया अवघात से ही करनी चाहिए । यह नियम बना दिया गया, जिस विधि के द्वारा यह नियमन हुआ वही 'नियमविधि' है । 'परिसंख्या विधि' से तात्पर्य उस विधि से है, जो एक ही समय में दो की प्राप्ति होने पर उनमें से एक की व्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः । जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' (पांच नारफनों वाले पांच प्राणियों का भक्षण करे) इस वाक्य के द्वारा जिन पांच प्राणियों को

प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्यादिति वाक्यं परिकल्प्यते । तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सिद्धे सति पश्चात् किञ्चिष्य-

भक्षण करने के लिए कहा गया है, उनके भक्षण की ओर प्रवृत्ति तो लोगों में उनके प्रति राग से ही होती है, इसलिए इसमें प्रवृत्ति का विधान किया गया है ऐसा नहीं माना जा सकता । इसका वास्तविक तात्पर्य तो यह है कि शश, गोघा, कूर्म, खड्गी और शल्यक इन पांच पंचनख प्राणियों से भिन्न समस्त पंचनख और अपंचनख प्राणी अभक्ष्य हैं । इस प्रकार पंच पंचनखों के भक्षण के विधान से अन्य प्राणियों के भक्षण का निषेध व्यक्त होता है । यही 'परिसंख्या विधि' है । 'रसना का आदान न करें' के रूप में दृष्टिगत होता है । यह निषेध रूप अर्थ अश्रुत (न सुनाई पड़ने वाला) अर्थ है, अतः उसकी कल्पना करने के कारण अश्रुतकल्पना नामक दोष आ जाता है । इसी प्रकार रसनात्व रूप सामान्य के कारण अश्वरशना के ही समान जो गर्दभ रशना का आदान स्वतः प्राप्त था, वह बाधित हो जाता है । क्योंकि तात्पर्य के रूप में जो अर्थ भासित होता है वह 'आदान' के रूप में न होकर 'अनादान' (नादत्ते) के रूप में है, यह प्राप्तबोध नामक दोष है । इन दोषों के होते हुए ब्राह्मणवाक्य को सार्थक नहीं कहा जा सकता^१ ।

सिद्धान्तपक्षी का इस पर यह कथन है कि प्रस्तुत स्थल पर परिसंख्या के ये तीनों दोष प्राप्त नहीं होते । क्योंकि प्रस्तुत ब्राह्मणवाक्य के अर्थ के रूप में गर्दभ रशना की प्राप्ति ही नहीं है, जो कि तीनों दोषों का आधार है । इसका कारण यह है कि गर्दभरशना थी प्राप्ति के पक्ष में उक्त वेद मन्त्र के प्रकरण में पढ़ा गया ब्राह्मणवाक्य निरर्थक हो जाता है यदि उक्त मन्त्र के द्वारा आदान को न माना जाए । फलतः ब्राह्मणवाक्य की अन्यथानुपपत्ति से इस मन्त्र के द्वारा आदान करे । इस वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है । और उस वाक्य के द्वारा यह सिद्ध हो जाने पर कि वेद के उस मन्त्र और आदान में सम्बन्ध है, यह आकांक्षा

१. 'मीमांसा परिभाषा' में कृष्ण यज्वा ने 'परिसंख्या' के दोषत्रय के स्वरूप और इसकी अनिवार्यता का उल्लेख इन शब्दों में किया है—'सा च परिसंख्या त्रिदोषा-स्वार्थत्यागः, परार्थस्वीकारः, प्राप्तबोधश्चेति । तत्र 'अश्वाभिधानी मादत्ते' इति वाक्यस्य अनेन मन्त्रेणाश्वरशना दानं कुर्यादिति स्वार्थः, स च त्यक्तः । गर्दभरशनातो मन्त्रनिवृत्तिः परार्थः, स च स्वीकृतः । गर्दभ रशना-यामपि लिङ्गात् प्राप्तस्य मन्त्रस्यानेन बाधश्च इति त्रिदोषा परिसंख्या गत्यभावादङ्गीकृता । गत्यन्तरे सति सा न युक्ता ।

कमादानमिति वीक्षायां लिङ्गाद् रशनामात्रस्यादानमुपेत्य गर्दभरशनायाः
प्राप्तिर्वक्तव्या । सा च विलम्ब्यते । 'इति अश्वाभिधानीम्' इति
प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सति लिङ्गात् रशनामात्रे
प्राप्तमादानम् 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्वा विशेषे व्यवस्थाप्यते । ततो
मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वात् गर्दभरशनाया अप्राप्तवान्नास्ति प्राप्तबाधः ।
अत एव निषेधार्थो न कल्प्यते, विध्यर्थश्च न त्यज्यते । तत्र कुतो

उत्पन्न होती है कि 'आदान किसका किया जाना चाहिए । फलतः लिङ्ग' अर्थात्
मन्त्र की सामर्थ्य से रशनामात्र अर्थात् समस्त रशनाओं (अश्वरशना और गर्दभ-
रशना) का आदान मानकर गर्दभरशना की प्राप्ति कहनी चाहिए, अर्थात्
उक्त वेदमन्त्र के रशना शब्द का तात्पर्य गर्दभ की रशना है, ऐसा मानना
चाहिए । किन्तु गर्दभरशना की यह प्राप्ति विलम्ब से होती है, अर्थात् गर्दभरशना
रूपार्थ का बोध देरी से होता है, क्योंकि प्राप्ति वस्तुतः दोनों रशनाओं की हुई
है । इसलिए केवल गर्दभरशना रूपार्थ की प्रतीति त्वारित नहीं होती । इसी
लिए वह ग्राह्य नहीं है । दूसरी ओर 'इति अश्वाभिधानीम्' इस प्रत्यक्ष ब्राह्मण-
वाक्य के द्वारा मन्त्र और आदान के सम्बन्ध का निश्चय हो जाने पर मन्त्र की
सामर्थ्यरूप लिङ्ग से 'आदान' शब्द रशनामात्र (अश्वरशना और गर्दभरशना
दोनों) का बोधक हो जाता है किन्तु 'अश्वाभिधानीम्' में अश्व शब्द की

१. मीमांसा ने अङ्गत्वबोध के लिए जो हर प्रमाण माने हैं उनमें से 'लिङ्ग' भी
एक है । लिङ्ग का अर्थ है सामर्थ्य 'लिङ्ग' नाम सामर्थ्यम् । यह दो प्रकार
का होता है (१) शब्दगत (२) अर्थगत । प्रस्तुत मन्त्र के 'रशना'
शब्द में रशनासामान्य को उपस्थित करने की सामर्थ्य है यही मन्त्र का
'लिङ्ग' (शब्दगत) है ।

दोषत्रयम् ? ईदृशमप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य
'परिसंख्या' इति सूत्रितम् ।

ननु 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव
इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अर्थवादो वा' (जै० १२:४३)-

श्रुति^१ उसे अश्वरशना रूप विशेष अर्थ में व्यवस्थित कर देती है ।
क्योंकि लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति प्रबल होती है, इसलिए यह विशेष अर्थ ही
ग्राह्य होगा । इस प्रकार मन्त्र के विनियोग के अश्वरशनादान में हो जाने पर
मन्त्र गर्दभरशना के प्रति निराकांक्ष हो जाता है । फलतः गर्दभरशना रूप अर्थ की
प्राप्ति ही नहीं होती और जब उसकी प्राप्ति ही नहीं है तो प्राप्तबाध रूप दोष
का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? क्योंकि गर्दभरशनादान मन्त्र का अर्थ ही नहीं
है, इसलिए उसके निषेधरूप अश्रुतकल्पना नामक दोष की भी संभावना नहीं है ।
साथ ही, मन्त्र का मुख्यार्थ अश्वरशनादान है, क्योंकि उसका विनियोग उसीमें
हुआ है, इसलिए विध्यर्थ का परित्याग भी नहीं होता, जिससे श्रुतहानि नामक
दोष भी प्रस्तुत स्थल पर नहीं है । इस प्रकार इस स्थल पर एक भी दोष नहीं
है । वास्तव में यहाँ न तो गर्दभरशना की ही प्राप्ति है, और न उसके निवारण
की ही । फिर भी इस अप्राप्तिरूप निवारण के अभिप्राय से ही 'परिसंख्या' इस
सूत्र को प्रस्तुत किया गया है ।

इस पर पूर्वपक्षी शंका प्रस्तुत करते हुए कहता है कि सिद्धान्तपक्षी के
उपयुक्त तर्कों से 'अश्वाधानीमादत्ते' इस ब्राह्मण वाक्य की ही निरर्थकता का
निवारण हो पाता है 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इस वाक्य की व्यर्थता तो ज्यों
की त्यों रह जाती है, क्योंकि मन्त्र के अर्थ के विवक्षित पर उसके द्वारा ही

१. 'श्रुति' भी अङ्गत्वबोधक षट्प्रमाणों में एक है । इसका लक्षण है—'अङ्गत्व
अटकारकत्वस्य साक्षादबोधकं प्रमाणं श्रुतिः' अर्थात् अङ्गत्व का साक्षात् बोध
करानेवाले प्रमाण को श्रुति कहते हैं । प्रकृत में 'अश्वाभिधानीम्' शब्द का
'अश्व' शब्द साक्षात् रूप से अश्वरशना का बोध करा देता है । यही श्रुति
है । छहों प्रमाणों में श्रुति सब से प्रबल है—'श्रुति' लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-
स्थान-समाख्यानाम् पूर्वपूर्ववलीयस्त्वम् ।

वाशब्दो वैयर्थ्यं चारयति । अस्त्यत्र अर्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' इति । तेन अर्थवादेन संबन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते ।

ननु प्रथयति इत्यनेनैव विधिशब्देन प्रथममनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिनार्थवादेन स्तौतव्यम् । तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य आह--

ब्राह्मणवाक्य के अर्थ की प्रतीति हो जाएगी । इस शंका का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है ।

‘इस ब्राह्मण में एक अर्थवाद है’ ।

सूत्र में 'वा' शब्द ब्राह्मणवाक्य की व्यर्थता का निवारण करता है । इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य यह है कि इस ब्राह्मणवाक्य में 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' (वह पुरोडाश) यज्ञपति (यजमान) को ही बढ़ाता है) यह एक अर्थवाद है । उस अर्थवाद के साथ सम्बन्ध के लिए ब्राह्मणवाक्य में विधि का पाठ किया गया है, तात्पर्य यहाँ कि अर्थवाद का सम्बन्ध केवल विधि के साथ हो संकता है । अब क्योंकि ब्राह्मणवाक्य में अर्थवाद का अस्तित्व है, इसलिए उसके साथ सम्बद्ध होने के कारण 'प्रथयति' इस विधि का भी पाठ किया गया है । इस प्रकार मन्त्र के सार्थक होने की स्थिति में भी 'उरूप्रथस्व' यह ब्राह्मण व्यर्थ नहीं है ।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'प्रथयति' इस विधिशब्द के द्वारा ही प्रथम को अनूदित कर (पूर्वकथित प्रथन का पुनः अपने शब्दों में कथन कर) 'यज्ञपतिमेव' इस अर्थवाद के द्वारा स्तुति करनी चाहिए । अर्थात् 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' वाक्या का 'प्रथयति' शब्द प्रथन का विधान नहीं अपितु अनुवाद मात्र करता है और 'यज्ञपतिमेव' यह जो अर्थवाद है, उसी द्वारा स्तुति होनी चाहिए । चूंकि अनुवाद पूर्वप्राप्त (पूर्वकथित) का ही होता है, इसलिए प्रश्न हो सकता है कि 'प्रथयति' के द्वारा अनूदित प्रथन कहाँ प्राप्त हुआ है ? इस आशंका का समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्षी कहता है--

‘मन्त्राभिधानात्’ इति । अध्वर्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे ‘प्रथस्व’ इत्येवमभिधत्ते । तस्मादभिधानाद् अध्वर्युकर्तृकं प्रथनं प्राप्तम् । यथा लोके यः कुरु इति ब्रूते स कारयत्येव, तथात्रापि यः प्रथस्व इति ब्रूते स प्रथयत्येव ।

यदुक्तम् ‘अग्निमूर्द्धा दिवः’ इति पाठक्रमनियमाद् अदृष्टार्थो मन्त्र इति तत्रोत्तरं सुत्रयति—

‘अविरुद्धं परम्’ (जै० १।२।४४) इति ।

‘मन्त्र में किए गए ‘प्रथस्व’ इस अभिधान से प्रथन पूर्वप्राप्त है’ ।

अध्वर्यु पुरोडाश को लक्ष्य करने मन्त्र में ‘प्रथस्व’ (फैलाओ) ऐसा कहता है । उस अभिधान (कथन) से अध्वर्यु के द्वारा किया हुआ प्राप्त है । जिस प्रकार लोक में ओ व्यक्ति ‘करो’ ऐसा कहता है, वह कराता ही है । उसी प्रकार यहाँ पर भी (यज्ञ में भी) जो ‘फैलाओ’ ऐसा कहता है वह फैलावाता ही है । कहने का तात्पर्य यह कि प्रथन ‘उरु प्रथस्व’ इस वैदिक मन्त्र से ही प्राप्त था, उसी का अनुवाद ब्राह्मणवाक्य के ‘प्रथयति’ शब्द से किया गया है ।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि ‘अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्’ इत्यादि वैदिक मन्त्रों में पदक्रम के अनुसार पाठ के नियम से यह सूचित होता है कि मन्त्र का प्रयोजन अदृष्ट है, उसका उत्तर इस सूत्र में दिया जा रहा है—

‘पूर्वपक्षी ने दूसरे सूत्र में जो कुछ कहा है वह हमारे विरुद्ध नहीं है ।

सूत्र के ‘परम्’ शब्द का अर्थ है पूर्वपक्षी के द्वारा पढ़ा गया ‘वाक्यनियमात्’ यह द्वितीय सूत्र । इस प्रकार सूत्र का प्रकृत अर्थ हुआ ‘वाक्यनियमात्’ इस दूसरे सूत्र में प्रतिपक्षी ने जो यह कहा था कि वैदिक वाक्यों के पदक्रम के अनुसार पाठ होने के कारण उनका प्रयोजन अदृष्ट है, वह हमारे (मन्त्र की सार्थकता) पक्ष में भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि पद क्रम के अनुसार वाक्यों के पाठ से जायमान अदृष्ट प्रयोजन निवारण हम भी नहीं करते दूसरे शब्दों में वह प्रयोजन हमें भी काम्य है है । किन्तु उसके साथ मन्त्रोच्चारण से जायमान अर्थबोध की भी उसके दृष्ट प्रयोजन होने के कारण उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, हमारा केवल इतना

परं द्वितीयसूत्रोक्तम् अस्मत्पक्षेऽपि अविच्छिन्नम् । न हि वयं पाठक्रम-
नियमाददृष्टं निवारयामः । किं तर्हि ? मन्त्रोच्चारणेन जायमानमर्थ-
प्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वान्नोपेक्षितव्यम् इत्येतावदेव ब्रूमः ।

ननु 'प्रोक्षणीरासादय' (वा० सं० १।२८) इति मन्त्रो बुद्धमेव अर्थ
ज्ञास्ति तदयुक्तम् । सोपानत्कस्य उपानदन्तरासंभावात् इत्युक्तमिति चेत् ।
तस्य परिहारं सूत्रयति—

'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलभ्यः संस्कारत्वात्' (जै० १।२।४५)
इति ।

संप्रैषकर्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो नोपलभ्यते । बुद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेण-
वानुस्मरणे सति नियमाददृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात् ।

ही कहना है—तात्पर्य यह कि हम अदृष्ट प्रयोजन को तो मानते ही हैं किन्तु दृष्ट
प्रयोजन की भी उपेक्षा करने को तैयार नहीं हैं हमें दोनों ही काम्य हैं ।

पूर्वपक्षी ने जो यह शङ्का की थी कि 'प्रोक्षणीरासादय' यह मन्त्र ज्ञात अर्थ
का ही आदेश देता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपानह (जूते) से युक्त पांव
में दूसरे उपानह को धारण कराना असंभव है, उसका उत्तर सिद्धान्तपक्षी इस
सूत्रमें देता है—

'संस्कार होने के कारण आदेश वाक्य से सम्पादित धर्म की निन्दा की प्राप्ति
नहीं होती, अर्थात् उसकी निन्दा करना उचित नहीं' ।

सूत्र का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने उक्त मन्त्र में आदेश वाक्य से जनित
कर्म की जो निन्दा की है, वह वास्तव में प्राप्त नहीं होती । क्योंकि ज्ञात अर्थ
का भी मन्त्र के द्वारा ही स्मरण किये जाने पर नियमाददृष्ट रूप संस्कार उत्पन्न
होता है—तात्पर्य यह है कि ज्ञात अर्थ का ही मन्त्र के द्वारा स्मरण किए जाने पर
दोष वहाँ होता जहाँ उसका कोई उपयोग नहीं । प्रस्तुत स्थल पर वैसी ही स्थिति
में चूँकि नियमा दृष्ट रूप उत्पन्न संस्कार के रूप में उसका उपयोग दृष्टिगत होता
है, इसलिए उपर्युक्त दोष की प्राप्ति ही नहीं होती ।

यच्चोक्तं 'चत्वारि शृङ्गाः' इति मन्त्रो असन्तमेवार्थमभिधत्ते इति
तस्योत्तरं सूत्रमिति—

'अभिधानेर्थावादः' (जै० १।२।४६) ।

असतोर्थास्य अभिधायके वाक्ये गौणस्यार्थस्योक्तिर्द्रष्टव्या । तद् यथा-
चत्वारो होत्रध्वर्युदगातृब्रह्माणोस्य कर्मणः शृङ्गाणि । प्रातःसवनाद-
यस्त्रयः पादाः । पत्नीयजमानो द्वे शीर्षे । गायत्र्यादीनि सप्तछन्दांसि
हस्ताः । ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम् । कामान् वर्षतीति वृषभः
रौरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः पुनः करोति । महो देवः सोऽयं प्रौढो
यज्ञरूपो देवो मर्त्यान् आविवेश इति मनुष्या एवात्राधिकारिणः । लोके-

पूर्वपक्षों ने जो यह कहा जा कि 'चत्वारि शृङ्गाः' यह मन्त्र अविद्यमान अर्थ
का ही अभिधान करता है अतः निरर्थक है, उसका उत्तर सूत्र रूप में प्रस्तुत
करते हैं—

'मन्त्र के द्वारा असत् अर्थ के अभिधान में अर्थवाद है, ऐसा समझना चाहिए ।

सूत्र का तात्पर्य यह है—असत् (अविद्यमान) अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले
मन्त्रवाक्य में अर्थवाद अर्थात् गौण अर्थ (लक्ष्यार्थ) का कथन किया गया है,
ऐसा समझना चाहिए । उदाहरणार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में होता उदगाता अध्वर्य और
ब्रम्हा ये चारो ऋत्विक् ही यज्ञरूप कर्म की सींगे हैं । प्रातःसावन, मध्याह्न सवन
और सायंसवन इसके तीन पाद हैं । यजमान और उसकी पत्नी ये दोनों उसके
दो सिर हैं । गायत्री आदि सात (प्रमुख) छन्द ही उसके हाथ हैं । ऋग्वेद,
यजुर्वेद और सामवेद—इन तीन वेदों से उसका तीन प्रकार से बन्धन किया गया
है । वह यज्ञ वृषभ है, क्योंकि मानवों की कामनाओं का वर्षण (पूर्ति) करता
है । वह स्तोत्र और शस्त्र आदि के शब्दों को पुनः पुनः करता है (रौरवीति) ।
यह 'महो देव' अर्थात् यज्ञरूप प्रौढ देवता मनुष्यों में प्रवेश कर गया है, इससे यह
अर्थ निकलता है कि मनुष्य ही इस यज्ञ को करने के अधिकारी हैं । लोक में भी

अपि एवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते—‘चक्रवक्स्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी’ इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात् । एवम् ‘ओषधे त्रायस्व, शृणोत ग्रावाणः’ इत्याद्यचेतनसंबोधनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि । यस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते तत्र वपनकर्ता त्रायते इति किमु वक्तव्यम् । तथा ग्रावाणोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वांसो ब्राह्मणा इत्यामन्त्रणाभिप्रायः ।

योऽपि ‘अदितिर्घौरदितिरन्तरिक्षम्’ इति विप्रतिषेध उक्तः, तस्योत्तरं सूचयति—

‘गुणाद्विद्वत्तिषेधः स्यात्’ (जै० १।२।४७) इति ।

इस प्रकार के गौण प्रयोग (लाक्षणिक प्रयोग) दिखाई देते हैं, जैसे—चक्रवाक स्तनी, हंसदन्तावली काशवस्त्रा और शैवाल केशिनी ऐसा कहकर नदी की स्तुति की जाती है (नदी अचेतन पदार्थ है इसलिए उसके स्तन, दांत, वस्त्र तथा केश होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । नदी की स्त्री रूप में कल्पना कर नदी से सम्बद्ध वस्तुओं को उसके अंगों के रूप में आरोपित किया गया है । तात्पर्य यह कि ये सब लाक्षणिक प्रयोग हैं) । इसी प्रकार वेद के ‘ओषधे यायस्व’ और शृणोत ग्रावाणः जैसे अचेतन (ओषधि और ग्रावन्) पदार्थों के सम्बोधनों को उसी रूप में न लेकर उन्हें उनकी स्तुति (प्रशंसा) के रूप में जानना चाहिए । जैसे ‘ओषधे त्रायस्व’ का तात्पर्य यह है कि जिस वपन (बोने की क्रिया) में ओषधि भी रक्षा करती है उसमें उमका वपनकर्ता रक्षा करता है, इसका तो कहना ही क्या, (यह तो अत्यन्त स्वाभाविक है) । इसी प्रकार ‘शृणोत ग्रावाणः’ का तात्पर्य है कि जब पत्थर भी प्रातरनुवाक को सुनते हैं तो विद्वान् ब्राह्मणों का तो कहना ही क्या ? वे तो अवश्य ही उसको सुनेंगे । इन सम्बोधनों का यही अभिप्राय है ।

और प्रतिपक्षी ने ‘अदिति घौरदितिरन्तरिक्षम्’ में जो परस्पर-विरोध की बात कही थी, उसका उत्तर इस सूत्र में प्रस्तुत है—

‘मन्त्रों में गौणप्रयोग के कारण परस्पर-विरोध नहीं है’ ।

भाव यह है कि जिस प्रकार ‘त्वमेव माता च पिता त्वमेव’ में एक ही वस्तु के माता और पिता दोनों होने के कारण आपस में आपातः विरोध प्रतीत होता

‘यथा त्वमेव पिता त्वमेव माता’ इत्यत्र गौणप्रयोगादविरोधस्तद्वत् ।
एवमेकरुद्रदेवत्ये कर्मणि एको रुद्रः शतरुद्रदेवत्ये शतं रुद्रा इति
अविरोधः ।

यदप्युक्तं ‘स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकाया अवर्हति न प्रका-
शयितुमिच्छति इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

‘विद्यावचनमसंयोगात्’ (जै० १।२।४८) ।

वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते । न हि

है, किन्तु माता और पिता शब्दों के मातृसदृश और पितृसदृश अर्थ में लक्षणाया (गौणरूप में) प्रयुक्त होने के कारण वह विरोध वास्तव में होता ही नहीं, उसी प्रकार ‘अदितिः’ इस मन्त्र में भी अदिति शब्द के योग प्रयोग मान लेने पर परस्पर विरोध की कोई बात नहीं रह जाती । ठीक यही बात एक एव रुद्रोऽवतस्थेऽद्वितीयः तथा शतं रुद्रा में रुद्र शब्द के प्रयोग के विषय में भी है । जो यज्ञ एक रुद्र देवता का है उसके लिए एक रुद्र का उल्लेख हुआ है और यज्ञ सौ रुद्रों का है उसके लिए सौ रुद्र का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार यहाँ भी कोई विरोध नहीं है ।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि स्वाध्याय का अध्ययन करता हुआ माणवक पूर्णिका नामक स्त्री की घान कूटने की क्रिया (अवर्हति) को प्रकाशित नहीं करना चाहता इसलिए मन्त्र निरर्थक है, उसका उत्तर इस सूत्र के माध्यम से दिया जा रहा है—

‘यज्ञ का संयोग न होने के कारण विद्याग्रहण काल में अर्थ का अवचन (कथन नहीं) होता’ । वेद विद्या के ग्रहण के समय के वैदिक मन्त्रों के अर्थ का जो कथन नहीं होता वह यज्ञ का संयोग न होने से उचित ही है—भाव यह है कि वेदयन्त्र यज्ञ के समय ही अपने अर्थ को प्रकाशित करते हैं, चूँकि वेद का अध्ययन करते समय यज्ञ नहीं हो रहा होता, इसलिए उसके अर्थ के प्रकट होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता । प्रकृत में न तो पूर्णिका का अवघात ही यज्ञ

पूर्णकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः । नापि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति
अतो यज्ञानुपकारात् न तत्रार्थविवक्षा ।

यदप्युक्तं 'अम्यक् सात इन्द्र' 'सृण्येव जभरी तूर्फरीतू' इत्यादौ
अर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवार्थः इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।२।४९) इति ।

विद्यमान एवार्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते । तेषां निगमनिरुक्त-
व्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः । तद् यथा—'जभरी तुर्फरीतू'
इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधाननि । तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते ।
आश्विनं वेदं सूक्तम् 'अश्विनोः काममत्राः' (ऋ० १०।१०६।११) इति ।
दर्शनात् । एतदेवाभिप्रेत्य निरुक्तकारो व्याचष्टे 'जभरी भर्तरी इत्यर्थः'

से युक्त है और न माणवक ही यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है । स्पष्ट है कि
माणवक के द्वारा पढ़े जानेवाले मन्त्रों के द्वारा यज्ञ का कोई उपकार नहीं हो
रहा है, इसलिए उनमें अर्थ की विवक्षा नहीं है ।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'अम्यक् सा त इन्द्र' और 'सृण्येव जभरी
तुर्फरीतू' इत्यादि मन्त्रों के अर्थ के जाने जा सकने के कारण वेद मन्त्रों का
कोई अर्थ है ही नहीं, उसका उत्तर इस सूत्र में दिया जा रहा है—

'अर्थ का अस्तित्व है, किन्तु उसका ज्ञान नहीं है' । भाव यह है कि मन्त्रों
में अर्थ विद्यमान तो होता है, किन्तु प्रमाद और आलस्य आदि के कारण उसका
ज्ञान नहीं हो पाता । ऐसे मन्त्रों के अन्तर्गत आनेवाले शब्दों का अर्थ निगम
(ब्राह्मण), निरुक्त और व्याकरण के आधार पर धातुओं से कल्पित कर लेना
चाहिए । उदाहरण के लिए 'जभरी' और 'तुर्फरीतू' इन दोनों शब्दों को लिया
जा सकता है । ये दोनों ही अश्विनीकुमार के नाम हैं, क्योंकि ये दोनों ही
द्विवचन में हैं । साथ ही ये दोनों नाम जिस सूक्त के अन्तर्गत हैं, उसके देवता
अश्विनो हैं । इसका प्रमाण इसी सूक्त के अन्तर्गत आनेवाले 'अश्विनोः

‘तुर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः’ (नि० १।३।५) इति एवम् ‘अम्यक् सा ते’ इत्यादावपि उन्नेयम् ।

यदप्युक्तं प्रमगन्दाच्चानित्यार्थसंयोगात् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्यात् इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

‘उक्तश्चानित्यसंयोगः’ (जै० १।२।५०) इति ।

प्रथमपादस्थान्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः परिहृतः तथाहि तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं, कालापकम् इत्यादि पुरुषसंबन्धाभिधानं हेतुकृत्य ‘अनित्यदर्शनाच्च’ (जै० १।१।२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम् । तस्यायमर्थः—‘बबरः प्रावाहणिरकामयत’ (तै०

काममप्राः’ जैसे वाक्यांश है । इन दोनों शब्दों की इस अश्विनपरकता के अभिप्राय से ही निरुक्तकार यास्क ने ‘जर्भरी’ की व्याख्या ‘मर्तारौ (मरण-पोषण करने वाले)’ और ‘तुर्फरीतू’ की व्याख्या ‘हन्तारौ (हनन करने वाले)’ के रूप में की है । इसी प्रकार ‘अम्यक् सा ते’ इत्यादि मन्त्रों के भी अर्थ को निरुक्त आदि के आधार पर समझना चाहिए ।

प्रमगन्द आदि अनित्य अर्थों के संयोग के कारण वैदिक मन्त्रों के अनादित्व की जो बात पूर्वपक्षी ने कही थी, उसका उत्तर इस सूत्र के माध्यम से दिया जाता है—

‘मन्त्रों में अनित्य वस्तुओं के संयोग के सम्बन्ध में पहले ही कह दिया गया’ ।

सूत्र का तात्पर्य यह है कि ‘मीमांसासूत्र’ के प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में मन्त्रों में अनित्य पदार्थों के संयोग रूप में उक्त दोष का परिहार किया जा चुका है, इसलिए यहाँ पर उसके फिर से परिहार की आवश्यकता नहीं । उदाहरण के लिए, वहाँ पर पूर्वपक्ष में वेदों के पौरुषेयत्व का प्रतिपादन करने के लिए ‘काठक’ (कठ नामक व्यक्ति के द्वारा निर्मित) और ‘कालापक’ (कलाप नामक व्यक्ति के द्वारा निर्मित) इत्यादि शब्दों में पुरुष के सम्बन्ध पर ऋद्धे नाम को पौरुषेयत्व का हेतु बनाकर ‘अनित्य दर्शनाच्च’ इस सूत्र के द्वारा उसके दूसरे हेतु को प्रस्तुत किया है । उसका अर्थ यह है—‘बबरः प्रावाहणिरकामयत’ इत्यादि मन्त्रों में बबर आदि अनित्य पदार्थों का जो दर्शन होता है, उससे यह सिद्ध होता है कि उसके पूर्व वेद

सं० ७।१।१०।२) इति अनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनाद् ततः पूर्वम् असत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति । तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्—‘परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्’ (जै० १।१।३१) इति । तस्यायमर्थः—यत् काठकादिसामान्यं तत् प्रवचननिमित्तम् । यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तत् शब्दसामान्यमात्रम् । न तु तत्र अनित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किंतु बबरः इति शब्दानुकृतिः । तथा सति बबर इति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते । स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । तदेवं कस्यचिदपि दोषस्यासंभवात् विवक्षितार्था मन्त्राः स्वार्थप्रकाशनायैव प्रयोक्तव्याः ।

नहीं था । इससे यह भी सिद्ध होता है कि वेद ‘अपौरुषेय न होकर पौरुषेय’ (मानव निर्मित) है । इस शंका का उत्तर ‘परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्’ इस सूत्र में दिया गया है । इस सूत्र का अर्थ है—काठक और कालापक आदि जो नाम वेद के मन्त्रों में मिलते हैं, वे प्रवचन के कारण बने हैं, अर्थात् काठक और कालापक का क्रमशः अर्थ है—वह जिसका प्रवचन (उपदेश) कठ और कलाप ने किया हो, न कि कठ और कलाप के द्वारा निर्मित । किन्तु इसके बाद पौरुषेयत्व की सिद्धि के लिए जो दूसरा (पर) हेतु बबर-आदि अनित्य पदार्थों के वेदमन्त्रों में दर्शन के रूप में दिया गया है, वह (बबर आदि शब्द) शब्द सामान्य मात्र है । तात्पर्य यह कि वेदमन्त्रों में कोई बबर नामक अनित्य व्यक्ति विवक्षित नहीं है अपितु ‘बबर’ यह अचेतन वस्तुओं के शब्द का अनुकरण है । ऐसा मान लेने पर ‘बबर’ इस प्रकार के शब्द को करती हुई वायु ही बबर शब्द से कही गई है । वही वायु ही ‘प्रावहणि’ भी कही गई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, अत्यधिक प्रवहणशील (खूब बहने वाली) । इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ कहीं पदार्थों का दर्शन हो, वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिए । इस प्रकार किसी भी दोष की संभावना के न होने से यह स्पष्ट है कि वेद के सभी मन्त्रों का अर्थ विवक्षित है और उनका प्रयोग उनके अर्थों के प्रकाशन के लिए ही (यज्ञ आदि में) होता है ।

यहाँ पूर्वपक्षी की ओर से यह शंका की जा सकती है कि सिद्धान्तपक्षी का यह जो कहना है कि मन्त्रों का प्रयोजन अपने अर्थ को प्रकाशित करना है, तथा

ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यते इति युक्तिमात्रमिदमुच्यते । न तु एतदुपोद्बलकं किंचित् श्रौतं लिङ्गं पश्यामः इत्याङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

‘लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्’ (जै० १।२।५१) इति ।

‘आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत’ इति श्रूयते । तस्याययमर्थः—अग्निदेवता यस्या ऋचः सेयमाग्नेयी, तथा आग्नीध्रस्थानमुपतिष्ठेत इति । अत्र हि उपस्थानमुपदिशद् ब्राह्मणम् ‘अग्ने नय’ (ऋ० १।१८९।१) इत्यनया

इस प्रकार उनका अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है न कि उससे भिन्न कोई अदृष्ट प्रयोजन वह केवल युक्तिमात्र है, क्योंकि मन्त्रों की इस दृष्टप्रयोजनता में कोई वैदिक प्रमाण हमें दिखाई नहीं पड़ता । कोई भी युक्ति प्रमाण के अभाव में किसी अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकती । इस आशंका का समाधान इस सूत्र में किया गया है—

‘लिङ्ग का उपदेश यह सूचित करता है कि मन्त्रवाक्य सार्थक हैं’ ।

‘आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत’ यह (ब्राह्मणवाक्य) सुना जाता है । इसका अर्थ है—जिस ऋचा का देवता अग्नि है, उसे आग्नेयी कहते हैं । उस आग्नेयी ऋचा के द्वारा आग्नीध्रस्थान (मण्डपविशेष जिसमें अग्नि का आधान किया जाता है) का उपस्थान (स्तुति) करे । यहाँ पर उपस्थान का उपदेश करता हुआ ‘आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत’ यह ब्राह्मणवाक्य ‘अग्नेनय’ इस ऋग्वैदिक मन्त्र के द्वारा उपस्थान करे । यह उपदेश मन्त्र के प्रतीक (मन्त्र के प्रारम्भिक शब्द) को पढ़कर नहीं करता, अपितु आग्नेयीत्व लिङ्ग के द्वारा उपदेश करता है । जिस समय जिस ऋचा में अग्नि का प्रधान रूप में प्रतिपादन किया गया होता है, उस समय उस ऋचा का देवता अग्नि होता है । ऐसा होने पर (अग्नि का प्रधान रूप में प्रतिपादन होने पर) ब्राह्मणवाक्य के ‘आग्नेय्या’ इस शब्द में देवतावाचक तद्धितान्त निर्देश (अग्नि + ङ् (एय्) + डीप्) उपपन्न होता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण वाक्य के द्वारा किया गया उपदेश इस तथ्य का बोध कराता है कि उपर्युक्त मन्त्रवाक्य सार्थक है । इसलिए मन्त्रों के अर्थ के विवक्षित होने के कारण प्रयोग के समय मन्त्रों का उच्चारण अर्थ की प्रतीति के लिए ही होता है । तात्पर्य यह है—ब्राह्मणवाक्य उपदेश दो प्रकार से दे सकता है—एक मन्त्र के

‘उपतिष्ठेत’ इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति, किंतु आग्नेयीत्वलिङ्ग-
उपदिशति । यदा यस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते तदा तस्या
ऋचः अग्निदेवता भवति । तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्विता-
न्तनिर्देश उपपद्यते । तस्मादयमुपदेशस्तन्मन्त्रवाक्यमर्थवदिति बोधयति ।
अतो विवक्षितार्थत्वात् अर्थप्रत्यायनार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोच्चारणम् ।

तस्मिन्नेव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

‘ऊहः’ (जै० १।२।५२) इति ।

प्रकृतौ आम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्त
रस्य प्रक्षेपेण पाठः ऊहः । तद् यथा ‘अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु

प्रथम शब्द (प्रतीक) का उपादान कर कि अमुक मन्त्र के द्वारा अमुक कार्य को
करे, दो मन्त्र में जिस देवता का प्रधान रूप में प्रतिपादन किया गया है, उसकी
उस प्रधानतारूप लिङ्ग के द्वारा । प्रस्तुत सन्दर्भ में ‘आग्नेय्याग्नी ध्रमुपतिष्ठेत’
यह ब्राह्मण वाक्य ‘अग्ने नय’ इस मन्त्र में विद्यमान आग्नेयीत्व लिङ्ग (मन्त्र में
विद्यमान अग्नि देवता सम्बन्धी असामान्य विशेषता) के द्वारा ही यह उपदेश करता
है कि इस मन्त्र के द्वारा ही उपस्थान करे । ‘अग्नेयी’ शब्द ‘अग्निः देवता अस्य’
इस अर्थ में ‘अग्नि’ शब्द से ढब् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है । किसी भी
ऋचा को आग्नेयी तभी कहा जा सकता है, जब उसका प्रधान अग्नि देवता हो—
दूसरे शब्दों में जब उसमें आग्नेयीत्व लिङ्ग विद्यमान हो । ऋचा या मन्त्र में
प्रधानतया प्रतिपादित देवता के इस लिङ्ग का ज्ञान अर्थप्रतीति के अभाव में
संभव नहीं है, और क्योंकि ब्राह्मण वाक्य मन्त्र के ‘आग्नेयीत्व’ लिङ्ग का निर्देश
करता है, इससे यह सिद्ध है कि मन्त्र सार्थक होता है । इस प्रकार मन्त्रोच्चारण
का प्रयोजन अदृष्ट न होकर अर्थप्रतीति है । मन्त्रों के इसी विवक्षितार्थत्व को
सिद्ध करने के लिए आचार्य ने यह दूसरा हेतु सूत्रित किया है—

‘मन्त्रों में ऊह’ के अस्तित्व से यह सिद्ध होता है कि उनमें अर्थ की विवक्षा है ।

प्रकृति अर्थात् मूलरूप में कहे गए मन्त्र का विकृति या भिन्नरूपता की स्थिति
में अर्थ को संगत बनाने के लिए उस विकृति के उचित अन्य पद का प्रक्षेप के
द्वारा पाठ कर लेने को ‘ऊह’ कहा जाता है । उदाहरण के लिए ‘अन्वेनं माता
मन्यतामनु पितानु भ्राता (माता, पिता और भाई को इस (पशु) के बाद समझो’)

‘माता’ (तै० ब्रा० ३।६।६।१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः । तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति ‘अन्वेनौ माता मन्यताम्’ इत्यूहः । पशुबहुत्वे सति ‘अन्वेनान् माता मन्यताम्’ इत्यूहः कर्त्तव्यः । एतन्मन्त्र-व्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमास्नायते—‘न माता वर्द्धते न पिता’ इति । तत्रेदं चिन्तनीयम् । किमत्र शरीरवृद्धिनिषिध्यते, आहोस्वित् शब्दवृद्धिरिति । एकवचनान्तस्य मातृशब्दस्य मातरौ इति द्विवचनान्तत्वेन वा, मातरः इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्दवृद्धिः । तत्र न तावत् शरीरवृद्धिनिषेद्धं शक्यते, बाल्यकौमारयौवनादिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात् । अतः शब्दवृद्धिनिषेध एव परिशिष्यते । मातृशब्दपितृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य एनमिति शब्दस्य अर्थानुसारिणो वृद्धिः सूचिता भवति । तत्र यद्यर्थो न विवक्ष्येत तदा पशुद्वित्वे

यह पशु के सम्बन्ध में मन्त्र का प्रकृति या मूल पाठ है । दो पशुओं की स्थिति में उस मन्त्र की विकृति में ‘अन्वेनौ माता मन्यताम्’ इस प्रकार (‘एनम्’ के स्थान पर ‘एनौ’) का ‘ऊह’ कर लिया जाता है । पशुओं के बतत की स्थिति में ‘अन्वेनान् माता मन्यताम्’ (मूलपाठ ‘एनम्’ के स्थान पर विकृत पाठ ‘एनान्’) इस प्रकार ‘ऊह’ कर लेना चाहिए । इस मन्त्र का व्याख्यान रूप ब्राह्मण वाक्य इस प्रकार कहा गया है—‘न माता वर्द्धते न पिता’ (न माता बढ़ती है न पिता) यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि इस ब्राह्मणवाक्य के द्वारा माता और पिता के शरीर की वृद्धि का निषेध किया जा रहा है, अथवा उनके वाचक ‘माता’ और ‘पिता’ शब्दों की वृद्धि का । शब्दवृद्धि से तात्पर्य है एक वचनान्त मातृशब्द (‘माता’) का ‘मातरौ’ इस द्विवचनान्तरूप में अथवा ‘मातरः’ इस बहुवचनान्तरूप में (परिवर्तित करके) प्रयोग करना । इन दोनों (शरीरवृद्धि और शब्दवृद्धि) में शरीरवृद्धि का तो निषेध किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि बाल्य, कौमार और यौवन आदि अवस्थाओं के अनुसार शरीर की वृद्धि प्रत्यक्ष है । अतः शब्दवृद्धि का निषेध ही शेष रहता है । मातृशब्द और पितृशब्द की विशेष रूप में वृद्धि के (‘न माता वर्द्धते न पिता’ इस वाक्य के द्वारा) निषिद्ध कर दिये जाने पर उससे भिन्न ‘एनम्’ इस शब्द की अर्थ के अनुसार वृद्धि सूचित होती है । उस मन्त्र में

द्विवचनं पशुबहुव्ये बहुवचनं च कथमूह्येत ? तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः ।

तर्हि मन्त्रेवार्थं लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

‘विधिशब्दाच्च’ (जै० १।२।५३) इति ।

मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दः इति उच्यते । स चैवमास्नायते—‘शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह’ (श० ब्रा० २।३।४।२१ इति । तत्र ‘शतं हिमाः’ इत्येतत् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम् । अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम् । मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्यं मन्त्रे व्याख्यायेत । तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चारयितव्याः । तत्र संग्रहश्लोको—

यदि अर्थ की विवक्षा न होती तो दो पशुओं के होने पर द्विवचन और बहुत पशुओं के होने पर बहुवचन का ऊह कैसे किया जाता । इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा होती है ।

मन्त्रों के इसी विवक्षितार्थत्व के सम्बन्ध में दूसरा हेतु प्रस्तुत किया जाता है—
‘(ब्राह्मणों में मन्त्रों के व्याख्यान रूप में प्रयुक्त) विधि शब्द के द्वारा मन्त्रों का विवक्षितार्थत्व सिद्ध है’ ।

मन्त्रों के व्याख्यान के रूप में प्रयुक्त ब्राह्मणों के शब्दों को विधिशब्द कहा जाता है । और वह इस प्रकार कहा जाता है—‘शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह’ (‘शतं हिमाः’ यह वैदिक मन्त्र यह कहता है कि हम सौ वर्ष तक जीवित रहें) । इसमें ब्राह्मणवाक्यगत ‘शतं हिमाः’ यह अंश उस मन्त्र का प्रतीक (प्रारम्भिक भाग) है, जिसकी व्याख्या ब्राह्मण में की जानी है । शेष अंश उस मन्त्र के तात्पर्य का व्याख्यान रूप है । यही विधिशब्द है । यदि मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा न होती तो ब्राह्मणवाक्यों के द्वारा मन्त्रों के किस तात्पर्य की व्याख्या की जाती ? कहने का भाव यह कि तात्पर्य अर्थरूप ही होता है । ब्राह्मणों के द्वारा मन्त्रों के तात्पर्य को स्पष्ट किया जाता है, यह कहने से ही मन्त्रों का विवक्षितार्थत्व सिद्ध हो जाता है । इसलिए यह स्पष्ट है कि मन्त्रों का अर्थ विवक्षित होता है और वे प्रयोग के समय अपने अर्थ के प्रकाशन के लिए ही उच्चारणीय हैं । इस सम्बन्ध में दो संग्रह श्लोक हैं—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टकहेतवः ।

यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेशच भासकाः ॥

ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।

न, तद्भानस्य दृष्टत्वात् दृष्टं वरमदृष्टतः ॥

(जै० न्या० १।२।४)

नन्वस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्; ब्राह्मणभागस्य तु न तद् युज्यते ।
तथा हि, द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिरर्थवादश्च । तथा च आपस्तम्बः—
'कर्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप० परि० ३४-३५)

'उरु प्रथस्व' इत्यादि मन्त्रों के उच्चारण का प्रयोजन क्या केवल अदृष्ट है अथवा वे यज्ञों में पुरोजशप्रथन आदि के अर्थ को भी प्रकट करने वाले हैं ? (इस प्रश्न के उपस्थित होने पर पूर्वपक्षी की ओर से यह कहा जा सकता है कि) मन्त्रों के द्वारा जिन अर्थों की प्रतीति बताई जाती है, उन्हीं अर्थों का प्रकाश ब्राह्मण के द्वारा भी होता है, इसलिए मन्त्रों का एकमात्र प्रयोजन पुण्य अर्थात् अदृष्ट है (न कि दृष्ट) । (इस पर सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि) यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि मन्त्र के द्वारा जिस अर्थ का प्रकाशन होता है उसका प्रयोजन एकमात्र दृष्ट है, क्योंकि दृष्ट फल अदृष्ट फल की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है ('न्यायलभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्ट परिकल्पना अर्थात् लभ्यमान फल के दृष्ट होने पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए') ।

पूर्वपक्ष—(ब्राह्मणभाग का प्रामाण्य नहीं है, इसलिए उसके आधार पर मन्त्रों के विवक्षितार्थत्व को सिद्ध करना उचित नहीं है) ।

पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि वेद के मन्त्रभाग के प्रामाण्य को मान भी लिया जाये तो भी उसके ब्राह्मण भाग के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता । उदाहरण के लिए ब्राह्मण के दो भेद हैं—विधि और अर्थवाद । और इन दोनों के सम्बन्ध में आपस्तम्ब का कथन है—'कर्म की प्रेरक' विधियों

१. आपस्तम्ब के इस सूत्र में आए हुए 'चोदना' शब्द का अर्थ प्रेरणा, उपदेश अथवा विधि है; जैसा कि कुमारिलभट्ट के श्लोक वार्त्तिक के चोपदे चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्यवाचिनः वाक्य से स्पष्ट है ।

इति । विधिरपि द्विविधः—अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् अज्ञातार्थज्ञापनं चेति ।
 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्याद्याः
 कर्मकाण्डगतविधयोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'
 (ऐ० आ० २।४।१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगत अज्ञातज्ञापकाः । तत्र कर्म-
 काण्डगतानां 'जत्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं०
 ५।४।३।२) इत्यादिविधीनां नास्ति प्रामाण्यम्; प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन

को ब्राह्मण कहते हैं तथा ब्राह्मण के शेष (अप्रेरक) भाग को अर्थवाद कहते हैं^१ विधि के भी दो प्रकार हैं—अप्रवृत्तकी ओर प्रवृत्त करनेवाली (अप्रवृत्त प्रवर्त्तन) और अज्ञात का ज्ञान करानेवाली (अज्ञातार्थज्ञापन) । 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (दीक्षणीय दृष्टि से सम्बद्ध अग्नि और विष्णु देवता के पुरोडाश का निर्वपन करें) इत्यादि कर्मकाण्ड की विधियाँ अप्रवृत्त-प्रवर्त्तक हैं, अर्थात् इस वाक्य के पूर्व पुरोडाश निर्वपन में लोगों की प्रवृत्ति नहीं थी, पुरोडाश निर्वपन अप्रवृत्त था इस वाक्य के द्वारा उसमें पहले पहल प्रवृत्ति कराई गई है, इसलिए इस प्रकार के विधिवाक्य अप्रवृत्त प्रवर्त्तक हैं । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (पहले एकमात्र आत्मा ही यह (विश्व) था' इत्यादि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ अज्ञातज्ञापक हैं, अर्थात् विश्व का एकमात्र आत्मरूप में पहले स्थिति होना एक ऐसा ज्ञातव्य विषय है, जिसका ज्ञान इस वाक्य के पूर्व तक लोगों को नहीं था, वह अज्ञात था इस वाक्य के द्वारा ही उसका सबसे पहले ज्ञान कराया गया, इसलिए इस प्रकार की विधियों को अज्ञातज्ञापक कहते हैं । इनमें कर्मकाण्डगत 'जत्तिलयवाग्वा वा' जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा (जंगली

१. जब समस्त कर्मप्रेरक वाक्य ही ब्राह्मण (समस्त) हैं तो उसका शेष भाग कहाँ रहा ? जिसे अर्थवाद कहा जाएगा । स्पष्ट है कि सूत्र में अर्थगत विरोध है । सूत्र का स्वरूप होना चाहिए 'कर्म चोदनानि ब्राह्मणानि विधिः, तच्छेषोऽर्थवादः' ।

सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात् । अयोग्यत्वं च वाक्यशेषे समास्नातम्—
 'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तै० सं० ५।४।३।२) इति । तत्र हि
 आरण्यतिलानाम् आरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम् । तस्माद्
 बाधितो जर्तिलादिविधिरप्रमाणम् । एवमैतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु 'तत्त-
 न्नादृत्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२३), 'तत्तथा न कार्यम्' (तै० ब्रा० १।१।८।६) इति
 वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः । अपि च ऐतरेयब्राह्मणे अनुदितहोमं
 बहुधा निन्दित्वा—'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐ० ब्रा० ५।३१) इति

तिल की लपसी अथवा जंगली गेहूँ की लपसी से हवन करे') इत्यादि विधियों
 का प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति के अयोग्य द्रव्यों का विधान करने के कारण
 वे सम्यक् अनुभव का साधन नहीं हैं, भाव यह है कि प्रमाण वही वस्तु हो सकती
 है जो सम्यक् अनुभव का साधन हो । सम्यक् अनुभव की साधनता इस बात पर
 निर्भर करती है कि वह द्रव्यों का विधान करे जो केवल प्रवृत्ति के योग्य हों ।
 जर्तिलयवागू के द्वारा हवन का विधान जैसा कि अभी देखा जायेगा प्रवृत्ति के
 योग्य नहीं है, इसलिए वह प्रमाण की कोटि में नहीं आ पाता । विधिवाक्य के
 के द्वारा विहित किए जानेवाले उपर्युक्त द्रव्यों की अयोग्यता का प्रतिपादन
 उपर्युक्त प्रकरण के अन्तिम वाक्य में किया गया है—'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च
 गवीधुकाश्च' अर्थात् जंगली तिलों और जंगली गेहूँ की आहुति नहीं होती । स्पष्ट
 है कि उक्त वाक्य में जंगली तिलों और जंगली गेहूँ का आहुति द्रव्य होना निषिद्ध
 है । इसलिए 'जर्तिल' आदि विधिवाक्य बोधित होने के कारण प्रमाण नहीं हैं ।
 इसी प्रकार ऐतरेय और तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में 'तत्तदनादृत्यम्' (उस-उस का
 आदर न करे) और 'तत्तथा न कार्यम्' (उसे वैसा न करे इन दोनों विधिवाक्यों
 के द्वारा बहुत सी विधियों का निषेध कर दिया गया है । इसके अतिरिक्त ऐतरेय
 ब्राह्मण में सूर्योदय के पूर्व के होम की अनेक प्रकार से निन्दा करने के पश्चात्
 'तस्मादुदिते होतव्यम्' (इसलिए सूर्योदय होने के पश्चात् हवन करना चाहिए)
 ऐसा अनेक बार कहा गया है । तैत्तिरीय शाखा के अध्येता भी उसी प्रकार कहते

असकृन्निगदितम् । तैत्तिरीयाश्च तथैवामनन्ति—‘यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुह्यात् उभयमेवाग्नेयं स्यात्, उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति’ (तै० ब्रा० २।१।२।७) इति । पुनरपि त एव उदितहोमे दोषमामनन्ति—‘यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुह्याद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादृगेव तत्’ (तै० ब्रा० २।१।२।१२) इति । तथैव ‘अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति’ इति विधिः ‘नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति’ इति निषेधेन

है—‘सूर्य के उदित होने के पूर्व प्रातःकाल यदि हवन किया जाय तो वह दोनों ही (प्रातः होम और सायं होम) अग्नि देवता का हो जायगा, इसलिए प्रातःकाल सूर्य के उदित होने पर होम करना चाहिए—कहने का तात्पर्य यह है कि सूर्यास्त के बाद से सूर्योदय से पूर्व तक के समय का देवता अग्नि है इसलिए इस अवधि में किए गए हवनादि कार्य अग्नि के ही होंगे । इसी प्रकार सूर्योदय के बाद से सूर्यास्त के पहले तक के समय का देवता सूर्य है, इसलिए इस अवधि के भीतर किए गए उक्त कार्य सूर्यदेवता के होंगे । फलतः हवन अग्नि के लिए सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्य के लिए सूर्योदय के पश्चात् करना चाहिए’ । फिर वे ही लोग सूर्योदय के पश्चात् किए जानेवाले होम में दोष बताते हुए कहते हैं—‘यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुह्याद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादृगेव तत् (सूर्य के उदित होने पर प्रातःकाल यदि हवन किया जाय तो हवन अतिथि के चले जाने पर सूने घर की जो पूजा की जाती है, उस जैसा ही है)’ । इसी प्रकार ‘अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति (अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण करे)’ यह विधिवाक्य ‘नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति (अतिरात्र यज्ञ में षोडशी को ग्रहण न करे)’ इस निषेधवाक्य के द्वारा बाधित हो जाता है—इसलिए उनका भी प्रामाण्य नहीं माना जा सकता । स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए ‘ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः’, जैसे विधिवाक्यों का जो प्रामाण्य देखा जाता है वह भी सन्दिग्ध ही है, क्योंकि ज्योतिष्टोम आदि के करने पर भी अनुष्ठान के पश्चात् ही स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती दृष्टिगत नहीं होती । भोजन के पश्चात् तृप्ति न हो यह

वाध्यते । ज्योतिष्टोमादिषु अपि अनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं लोपलभ्यते । न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनुपलम्भोऽस्ति । तस्मात् कर्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसंपादम् ।

अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधान्नास्ति प्रामाण्यम् । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति ऐतरेयिण आमनन्ति (ऐ० उ० १।१) । 'असद् वा इदमग्र आसीद्' (तै० आ० ८।७) इति तैत्तिरीयाः । सोऽयं विरोधः । तस्मात् वेदे विधिभागः सर्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

ऐसा नहीं होता—कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार भोजन के पश्चात् तृप्ति अनिवार्य रूप से दृष्टिगत होती है, उसी प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' जैसे वाक्यों के अनुसार किए गए अनुष्ठानों के पश्चात् स्वर्गादि फल की प्राप्ति दिखाई नहीं देती । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुष्ठानों का स्वर्गादि के रूप में किसी फल का अस्तित्व नहीं है और फलतः उक्त वाक्यों का कोई प्रामाण्य नहीं है । इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्मविधियों (कर्मकाण्ड) में ब्राह्मणों के विधिवाक्यों के प्रामाण्य को सम्पादित करना अत्यन्त कठिन है ।

इसी प्रकार अज्ञात का ज्ञान करानेवाली ब्रह्मविधियों (ब्रह्मकाण्ड के वाक्यों) में भी परस्पर-विरोध होने के कारण प्रामाण्य नहीं है । ऐतरेय शाखा का अध्ययन करनेवाले कहते हैं—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (पहले यह (विश्व) एकमात्र आत्मा ही था' । किन्तु तैत्तिरीय शाखा के अध्येताओं का कथन है—'असद् वा इदमग्र आसीत् (पहले यह (विश्व) असत् अ (नञ्) + सत् = शून्य) था । इस प्रकार ऐतरेय और तैत्तिरीय शाखा के अध्येताओं के विचारों में विरोध स्पष्ट है । इसलिए वेद का सारा विधि विभाग—अप्रवृत्त प्रवर्तन और अज्ञातार्थज्ञापन दोनों ही—अप्रमाण है, यह निश्चित है । ऐसी स्थिति में हमारा (सिद्धांतपक्षियों का) कथन है ।

अस्तु एवं जर्तिलादिविधेरप्रामाण्यं, तदर्थस्याननुष्ठेयत्वात् । अनुष्ठेयस्तु अर्थ उपरितने 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तै० सं० ५।४।३।२) इति वाक्ये विधीयते । तत्प्रशंसार्थमत्र जर्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते । यथा गवामश्वानां च प्रशंसार्थम् 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।६।४) इति वाक्येनार्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत् । एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्तिलादिविधिरत्र

सिद्धान्तपक्ष : (ब्राम्हण के विधिभाग का प्रामाण्य है)

जर्तिल (जंगली तिल) विधि के अप्रामाण्य की बात को माना जा सकता है, क्योंकि उन विधियों के अर्थों का (जर्तिल आदि) में प्रयोग नहीं होता—जो अनुष्ठेय ही नहीं है वह प्रमाण कैसे हो सकता है, अतः उसके सम्बन्ध में पूर्वपक्षी के द्वारा प्रस्तुत अप्रामाण्य के तर्क को स्वीकार किया जा सकता है । अनुष्ठेय अर्थ का विधान तो तैत्तिरीय संहिता के उक्त वाक्य के बादवाले वाक्य 'अजाक्षीरेण जुहोति (बकरी के दूध के द्वारा होम करे) के द्वारा किया गया है । इस अनुष्ठेय अजाक्षीर की प्रशंसा करने के लिए जर्तिल आदि को उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत करके उसकी निन्दा की गयी है । जैसे, गायों और अश्वों की प्रशंसा के लिए 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (गायों और घोड़ों से भिन्न (पशु) पशु नहीं हैं) इस अर्थवादादरूप वाक्य के द्वारा अज (बकरा) आदि पशुओं के पशुत्व की निन्दा की गई है, उसी प्रकार अजाक्षीर की प्रशंसा करने के लिए ऊपर के वाक्य के द्वारा जर्तिलादि की निन्दा की गई है । यहाँ कोई यह कह सकता है कि जिस प्रकार अजादि पशुओं की निन्दा होने पर भी उनमें पशुत्व वास्तव में बना रहता है, अर्थात् वे पशुत्व से शून्य नहीं हो जाते उसी प्रकार जर्तिलादि विधि यहाँ निन्दित होकर भी अन्य शाखा में प्रशंसित भी हो सकती है और ऐसी स्थिति में उसके अप्रामाण्य का प्रश्न ही उत्पन्न होता तो उसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि यदि अन्य शाखा में जर्तिलादि विधि की प्रशंसा होती है तो होने दो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है । उसका प्रामाण्य भी उसी शाखा का अध्ययन करनेवालों के प्रति होगा— तात्पर्य यह है कि जिस शाखा में वह प्रशंसित होगी, वहाँ उसका प्रामाण्य होगा,

निन्दमानोऽपि क्वचित् शाखान्तरे भवेदिति चेत् । भवतु नाम, प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनं प्रति भविष्यति । यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्न-भोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत् । अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ । यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितस्तद्वत् । तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तै० सं० १।१।१) इति मन्त्रमामनन्ति । वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं नाम-नन्ति (वा० सं० १।१) । प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोज्जूह निराकृतः (श० ब्रा० १।७।१।३) । तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य

किन्तु जहाँ वह निन्दित है, वहाँ उसका अप्रामाण्य रहेगा इस प्रकार इस तर्क से हमारी कोई हानि नहीं होती । जिस प्रकार गृहस्थाश्रम में परान्नभोजन (दूसरे के अन्न का भोजन करना) निषिद्ध होने पर भी अन्य आश्रमों में निषिद्ध होने के कारण प्रामाणिक है, उसी प्रकार जैतिलादि विधि जिस शाखा में निन्दित है वहाँ उसका प्रामाण्य समझना चाहिए और जहाँ प्रशंसित है, वहाँ उसे प्रामाणिक मानना चाहिए । इस न्याय से सभी स्थलों पर परस्पर विरुद्ध विधियों और निषेधों को पुरुष के भेद से उसी प्रकार व्यवस्थित कर लेना चाहिए, जिस प्रकार मन्त्रों में पाठभेद को शाखाभेद के आधार पर व्यवस्थित कर लिया गया है, अर्थात् जिस प्रकार वैदिक मन्त्रों में दृष्टिगत होनेवाले नाना प्रकार के पाठभेदों को वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाओं के कारण व्यवस्थित मान लिया जाता है और प्रत्येक शाखा का पाठ उसका अध्ययन करने वालों के लिए प्रामाणिक माना जाता है, उसी प्रकार विधि और निषेध को भी पुरुष के भेद से व्यवस्थित कर लेना चाहिए । एक वस्तु एक व्यक्ति के लिए यदि विधि होने के कारण यदि प्रामाणिक है तो दूसरे व्यक्ति के लिए निषिद्ध होने के कारण अप्रामाणिक भी हो सकती है । मन्त्रों के पाठभेद के लिए इन उदाहरणों को लिया जा सकता है तैत्तिरीय शाखा के अध्वेता वायवः स्थोपायवः स्थः' ऐसा मन्त्र को पढ़ते हैं । किन्तु वाजसनेयी शाखा के अध्वेता उक्त मन्त्र के 'उपायवः स्थः' इस भाग को नहीं पढ़ते । प्रत्युत शतपथ ब्राह्मण में मन्त्र

पाठान्तरं तैत्तिरीयाः आमनन्ति—‘यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्य-
वसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्’ (तै० सं० २।६।१।६) इति
निराकरणम् । ‘सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयाद् इति पाठान्त-
रोपदेशः । तत्र अनुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था । तद्वत् विधिषु द्रष्टव्यम् ।
षोडशग्रहणादिदूषणं तु अश्रुतमीमांसावृत्तान्तस्य तत्रैव शोभते । पूर्व
मीमांसायां दशमाध्यायस्याष्टमपादे षोडशिनो ग्रहणाग्रहणविकल्पो
निर्णीतः (जै० १०।८।६) । द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तर
भाविकलसिद्धयर्थमपूर्वं निर्णीतम् (जै० २।१।५) । तद्वदुत्तरमीमांसायां
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे ‘कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः’
(ब्र० सू० १।४।१४) इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिवि-
प्रतिपत्तिनिराकृता । द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे आरम्भणाधिकरणे

के उपर्युक्त भाग का अपने शब्दों में उल्लेख करके निराकरण कर दिया गया है ।
इसी प्रकार तैत्तिरीय शाखा के अध्येता सूक्तवाकमन्त्र के अन्य शाखीय पाठ का
निराकरण करके अन्य पाठ को इस प्रकार कहते हैं, उनके द्वारा किया गया अन्य
शाखीय पाठ का निराकरण इस प्रकार है—‘यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना
चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्’ । और पाठान्तर की स्थापना इस प्रकार की गई
है—‘सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयात्’ । जिस प्रकार उक्त स्थलों पर अनु-
ष्ठाता पुरुषों के भेद से पाठभेद की व्यवस्था कर ली गई है, उसी प्रकार की
व्यवस्था विधियों में भी समझनी चाहिए । जहाँ तक अतिरात्र यज्ञ में षोडशी पात्र
के ग्रहण-विधि के निषेध से बाधित होकर उसके अप्रमाण होने का दोष है, वह तो
मीमांसाशास्त्र के पूर्णतः परिचय न रखनेवाले केवल आपको (पूर्वपक्षी को) ही
शोभा देता है—भाव यह है कि जिसने मीमांसा शास्त्र का थोड़ा सा भी अस्यास
किया है उसके लिए उक्त विधि के अप्रमाण होने का प्रश्न ही नहीं उठता । पूर्व
मीमांसा (जैमिनिवृत्त ‘मीमांसासूत्र’) के दशम अध्याय के अष्टम वाद में षोडशी पात्र
के ग्रहण और अग्रहण के विकल्प का निर्णय कर दिया गया है । उसी के द्वितीय
अध्याय के प्रथम पाद में कालान्तर में होनेवाले फल की सिद्धि के लिए अपूर्व
का निर्णय किया गया है । उसी प्रकार उत्तरमीमांसा (वादरायणवृत्त ‘ब्रह्मसूत्र’)

तु 'असद्व्यपदेशान्तेति चेत्, न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् (ब्र० सू० २।१।१७) इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वम् किंतु अव्यक्तावस्थपरत्वमिति निर्णीतम् । तथा जैमिनिः चोदनासूत्रे (जै० १।१।२) विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे (जै० १।१।५) तत्प्रामाण्यं समर्थयामास । व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय 'तत्तु समन्वनात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास ।

के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद के कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः^१ इस सूत्र में संसार के कारणभूत परमात्मा के सम्बन्ध में श्रुतिवाक्यों के पारस्परिक विरोध का परिहार किया गया है । उसी के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भर्णाधिकरण के 'असद्व्यपदेशान्तेति चेत् न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्'^२ इस सूत्र में तैत्तिरीय संगीता के 'असद् वा इदमग्र आसीत्' इस वाक्य में विद्यमान 'असत्' शब्द का तात्पर्य शून्य न होकर संसार की अव्यक्तावस्था है ऐसा निर्णय किया गया है (इस प्रकार अज्ञातज्ञापक ब्रह्मविधियों के पारस्परिक विरोध के कारण अप्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता) ।

१. 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' इस सूत्र का अर्थ यह है— यन्मात्रस्य यतः आदि वेदान्तसूत्रों के द्वारा जिस परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है उस (यथाव्यपदिष्ट) का ही आकाशदि के कारणरूप में ('तस्माद् वा एतस्माद्वात्मन आकाशः सम्भूतः तत्तेजोऽसृजतः' आदि वैदिक वाक्यों के द्वारा) प्रतिपादन किया गया है, इसलिए सांख्याभिमत अव्यक्त उनका कारण नहीं है ।

२. 'असद्व्यपदेशान्तेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' इस सूत्र का अर्थ यह है— 'असदेवेदमग्र आसीत्' आदि वाक्यों में 'असत् शून्य' का उल्लेख होने के कारण यह कहना ठीक नहीं है कि कारण में कार्य के अस्तित्व की सिद्धि वेद और लोक से होती है । पूर्ववक्षी के इस कथन का उत्तर है 'नहीं' क्योंकि 'तदसदेव सन्मनोज्जुह्वत स्यामिति' इत्यादि वाक्यशेषों से 'असत्' शब्द का अर्थ तुच्छ या शून्य न होकर जगत् के धर्म नाम और रूप से भिन्न (धर्मान्तर से युक्त) संसार की अव्यक्तावस्था है ।

तस्मात् अमीमांसकस्य तव पूर्वोक्तस्यान्वन्धन्यायो दुष्परिहरः । अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम् ।

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास । तत्सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते । तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

‘आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानां तस्मादनित्यमुच्यते (जै० १।२।१) इति ।

इसी प्रकार जैमिनि ने पूर्वमीमांसा के चोदनासूत्र (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म) में ‘विधिवाक्य धर्म में प्रमाण है’ ऐसी प्रतिज्ञा करके औत्पत्तिक सूत्र (औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस् तस्य ज्ञानमुपदेशोऽन्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणवादरायणस्यानपेक्षत्वात्) में विधिवाक्य के प्रामाण्य का समर्थन किया है । व्यास ने भी वेदान्तसूत्र के ‘शास्त्रयोनित्वात्’ इस सूत्र में ‘वेदान्तों का प्रामाण्य ब्रह्म में है, ऐसी प्रतिज्ञा करके ‘तत्तु सम्बन्धयात्’ इत्यादि सूत्रों के द्वारा वेदान्त वाक्यों के इस प्रामाण्य का समर्थन किया है । इसलिए पहले यास्क के जिस जिस स्थाणु और अन्ये व्यक्ति के न्याय (नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति) को उदाहृत किया गया है, वह मीमांसाशास्त्र से सर्वथा अपरिचित (अमीमांसकस्य) आपके ऊपर अच्छी तरह से लागू हो जाता है—भाव यह है कि जिस प्रकार दोष स्थाणु का नहीं, अपितु उसे न देखकर उससे टकरा जानेवाले अन्ये का होता है, उसी प्रकार विधिवाक्यों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति उसी व्यक्ति को होती है, जो मीमांसाशास्त्र से परिचय नहीं रखता ! ऊपर पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के कतिपय सूत्रों को उदाहृत कर यह दिखाया जा चुका है कि मीमांसा को विधिवाक्यों का प्रामाण्य अभीष्ट है । अब यदि आप उनके प्रामाण्य को स्वीकार करते-तो इसका तात्पर्य यही है कि आपका मीमांसा (पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों) से कोई परिचय नहीं है । इसलिए ब्राह्मण के विधि-भाग का प्रामाण्य सर्वथा निर्विवाद है ।

अब रही ब्राह्मण के अर्थभाग के प्रामाण्य की बात सो जैमिनि ने मीमांसा-सूत्रों में बड़े प्रयत्न से उसका समर्थन किया है । इस सन्दर्भ में हम जैमिनि के सूत्रों की व्याख्या करेंगे । महर्षि जैमिनि पहले पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं :

पूर्वपक्ष—(ब्राह्मण के अर्थवाद भाग का प्रामाण्य नहीं है) ।

आम्नायस्य सर्वस्य क्रियापतिपादनाय प्रवृत्तत्वाद् अक्रियाप्रति-
पादकानामर्थवादानां नास्ति कश्चित् विवक्षितः स्वार्थः । ते चार्थ-
वादा एवमाम्नायन्ते—‘सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्भुद्रस्य रुद्रत्वम्’ (तै० सं०
१।५।१।१) ; ‘स आत्मनो वपामुदखिदत्’ (तै० सं० २।१।१।४) ; ‘देवा
वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्’ (तै० सं० ६।१।५।१) इति
यस्मादीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितोऽर्थः कश्चिदपि नास्ति तस्माद्विदं

‘आम्नाय अर्थात् वेद के क्रिया (कर्मकाण्ड) का निमित्त होने के कारण
उसका जो भाग क्रिया के अर्थ को व्यक्त नहीं करता (अतदर्थ) वह निरर्थक
है (और) इसीलिए उस भाग को अनित्य कहा जाता है’ । समस्त
वेद क्रिया का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त है, अर्थात् वेद का प्रत्येक वाक्य
किसी-न-किसी कर्म को करने की प्रेरणा देता है, इसलिए जो वाक्य क्रिया
या कर्म का प्रतिपादन नहीं करते वे अर्थवाद कहे जाते हैं और उनका
अपना कोई विवक्षित अर्थ नहीं है । अर्थ न होने के कारण उसका प्रामाण्य भी
नहीं है । वे अर्थवाद इस प्रकार कहे जाते हैं—‘सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्भुद्रस्य
रुद्रत्वम् (वह रोया, जो वह रोया वही रुद्र का रुद्रत्व है, अर्थात् रोने के कारण
उसका नाम रुद्र पड़ा) ‘स आत्मनो वपामुदखिदत्’ उस (प्रजापति) ने अपनी
वपा (हृदयप्रदेशान्तर्बर्त्ती मांस) को उखाड़ दिया । ‘देवा वै देवयजनमध्यवसाय
दिशो न प्राजानन्’ (देवताओं ने देवयज्ञ को सम्पन्न करने के पश्चात् दिशाओं
को नहीं समझा), इत्यादि (इन वाक्यों से किसी कार्य को करने की प्रेरणा नहीं
प्राप्त होती, इसलिए ये विधिवाक्य न कहे जाकर अर्थवाद कहे जाते हैं) ।
क्योंकि इस प्रकार के वाक्य का कोई विवक्षित अर्थ नहीं है, इसलिए इन्हें अनित्य
कहा जाता है । यद्यपि (अपौरुषेय होने से) अनादि होने के कारण ये अर्थवाद
रूप वाक्य स्वरूप से अनित्य नहीं हैं, फिर भी धर्म (कर्म) के बोधनरूप नित्य
कार्य के अभाव से ये अनित्य काव्यालाप के समान होने के कारण अप्रमाण हैं—
भाव यह है कि ये अर्थवाद रूप वाक्य भी विधिवाक्यों के ही समान अनादि हैं,

वाक्यमनित्यमुच्यते । यद्यपि अनादित्वात् स्वरूपेणानित्यत्वं नास्ति, तथापि धर्मावबोधनलक्षणस्य नित्यकार्यस्याभावात् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वात् अप्रमाणमित्यर्थः ।

ननु उदाहतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्मं प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु । तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतःप्रामाण्यस्य अपवादितुमशक्यत्वात् इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदवार्थदेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तद्दृष्टान्तेन सर्वेषामपि अर्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति—
'शास्त्रदृष्टविरोधान्च' (जै० १।२।२) इति ।

इसलिए उनके ही समान ये भी स्वरूपतः अनित्य नहीं हैं, क्योंकि जो वस्तु अनादि होगी वह स्वरूपतः अनित्य नहीं हो सकती । इनके यहाँ पर अनित्य कहे जाने का तात्पर्य यह है कि ये विधिवाक्यों के धर्म अर्थात् कर्म का बोधन रूप जो नित्य कार्य है, उसे नहीं करते । इस कारण ये काव्यालाप के समान अनित्य हैं और जिस प्रकार काव्यालापों का कोई प्रामाण्य नहीं होता, उसी प्रकार इनका कोई प्रामाण्य नहीं है ।

उत्तरपक्षी की ओर से यहाँ यह कहा जा सकता है कि उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए गए अर्थवादों का अनुष्ठेय धर्म के सम्बन्ध में प्रामाण्य न होने पर भी उनका अपने अर्थ में तो प्रामाण्य है ही, क्योंकि अर्थ के बोधक होने के कारण उनके स्वतः प्रामाण्य का अपलाप कोई नहीं कर सकता । ऐसी आशङ्का करके कुछ अन्य अर्थवादों में (प्रत्यक्ष और अनुमान आदि) अन्य प्रामाण्यों के पारस्परिक विरोध के दिखाई पड़ने के कारण उनके अप्रामाणिक हो जाने पर उनके दृष्टान्त पर समस्त अर्थवादों का अप्रामाण्य उपस्थित हो जाता है, इस अभिप्राय से अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं :

'इसके अतिरिक्त शास्त्रदृष्ट विरोध के कारण अर्थवाद अप्रमाण है' ।

अर्थवादों में तीन प्रकार का विरोध उपलब्ध होता है—शास्त्र विरोध, दृष्ट-विरोध और शास्त्रदृष्टविरोध ।

शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोधः इति त्रिविधो विरोधोऽ-
र्थवादेषूपलभ्यते । तथा हि, 'स्तेनं मनोज्ञतवादिनी वाक्' इत्यत्र श्रूय-
माणं मानसं चौर्यं वाचिकमनृतवदनं च प्रतिषेधशास्त्रेण विरुद्धम् ।
'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नाचिः तस्माद् अचिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे
न धूमः' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्यत्र दृष्टविरोधः । तथा 'न चैतद् विद्मो
वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मै० सं० १।४।११) इत्यत्रापि
प्रत्यक्षविरोधः । 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा' (तै०

उदाहरण के लिए स्तेनं मनोज्ञतवादिनी वाक् (मन चोर है और
वाणी झूठ बोलने वाली है)' इस वाक्य में मन का चोरी करना और
वाणी के द्वारा झूठ बोलना ये दोनों 'चौर्यं न कर्त्तव्यम्' और नानृतं
वदेत्' जैसे प्रतिषेध वाक्यों के विरुद्ध है—भाव यह है कि एक ओर शास्त्र के
वाक्यों के द्वारा 'चोरी नहीं करनी चाहिए' 'तथा झूठ नहीं बोलना चाहिए'
इस प्रकार का उपदेश दिया गया है दूसरी ओर उपर्युक्त अर्थवाद वाक्यों से मन
का चोर होना और वाणी का मिथ्यावादिनी होना सिद्ध होता है—इस प्रकार
अर्थवाद का शास्त्र के साथ स्पष्ट विरोध दृष्टिगत होता है । 'तस्माद् धूम
एवाग्नेर्दिवा ददृशे नाचिः तस्माद् अचिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (इसलिए
आग का धूम दिन में दिखाई पड़ता है ज्वाला नहीं, इसलिए रात में आग की
ज्वाला ही दिखाई पड़ती है धूम नहीं)' इस वाक्य में स्पष्ट रूप से दृष्ट अर्थात्
प्रत्यक्ष का विरोध है, क्योंकि दिन में केवल धूम नहीं बल्कि उसके साथ ज्वाला
भी दिखाई पड़ती है । रात में केवल ज्वाला नहीं अपितु उसके साथ धूम भी
दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा
वा' (हम नहीं जानते हैं कि हम ब्राह्मण हैं अथवा अब्राह्मण हैं)' इस वाक्य
में भी प्रत्यक्ष का विरोध है, क्योंकि अर्थवादवाक्य से जहाँ सन्देह की अभिव्यक्ति
होती है वहाँ प्रत्यक्ष में यह बात नहीं, प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि वह
ब्राह्मण है या नहीं; इसलिए वहाँ सन्देह का अवसर ही नहीं है । 'को हि तद्

सं० ६।१।१।१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि-
शास्त्रे हि आमुष्मिकं फलं दृश्यते । तस्मात् विरोधादर्थवादानामप्रा-
माण्यम् ।

ननु 'सोऽरोदीत्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्या-
दीनां च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभय-
वैलक्षण्यात् अस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'तथा फलाभावात्' (जै० १।२।३) इति ।

यथा मानान्तरविरुद्धमर्थवादैरुक्तं तथा फलमपि अविद्यमानमेव तैरु-
च्यते । तथा हि, गर्गत्रिरात्रं प्रकृत्य श्रूयते 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद

वेदं यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा (उस (पर) लोक में (स्वर्ग) है या नहीं
इसे कौन जानता है) ? इस वाक्य में शास्त्र और दृष्ट दोनों का विरोध है,
क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे)' इत्यादि शास्त्रीय
वाक्य में आमुष्मिक (पर लोक में मिलनेवाला स्वर्गादि रूप) फल दृष्टिगत
होता है, जबकि उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य में उसके प्रति सन्देह दृष्टिगत होता
है । इसलिए इस त्रिविध विरोध के कारण अर्थवादों का प्रामाण्य नहीं है ।

इस पर—सिद्धान्तप्रक्षी की ओर से यह कहा जा सकता है कि 'सोऽरोदीत्'
इत्यादि अर्थवाद वाक्यों के निष्प्रयोजन होने तथा 'स्तेनं मनः' इत्यादि वाक्यों में
विरोध होने के कारण उनके अप्रामाण्य के होने पर भी फल का प्रतिपादन करने
वाले अर्थवाद वाक्यों के उन दोनों से विलक्षण (भिन्न) होने के कारण उनके
प्रामाण्य को तो स्वीकार किया हो जा सकता है, इस आशङ्का से अगला सूत्र
प्रस्तुत करते हैं—

'फल का अभाव होने के कारण भी अर्थवाद वाक्य अप्रामाणिक हैं' ।

जिस प्रकार अर्थवाद शास्त्र और प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध अर्थ को
कहते हैं, उसी प्रकार वे (फल प्रतिपादक अर्थवाद) ऐसे फल का भी प्रतिपादन
करते हैं, जिसकी संसार में सत्ता नहीं (अविद्यमान) होती । उदाहरण के लिए
गर्गत्रिरात्र नामक यज्ञ के सन्दर्भ में सुना जाता है—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद
(जो ऐसा जानता है उसका मुख शोभा पाता है)' इसी प्रकार दर्श और पूर्णमास

(ताण्ड्य ब्रा० २०।१६।६) इति । दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभिमर्शनं प्रकृत्य श्रूयते 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तै० सं० १।७।४।६) इति । न च वयं वेदितृणां तत्फलमुपलभामहे ।

ननु ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादात् अप्रामाण्येऽपि आमुष्मिकफल-वाक्यानाम-तुं प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२।४) इति ।

एवं हि श्रूयते—'पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोति' (तै० ब्रा० ३।८।१०।५); 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति'; 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्राह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) । तत्र अन्याधेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि

नामक यज्ञों में वेदाभिमर्शन (वेदार्थज्ञान) के सम्बन्ध में सुना जाता है (कहा गया है)—'उसकी सन्तति में अन्नवाला होता है, जो जैसा जानता है' । किन्तु यज्ञ और वेदार्थ को जाननेवालों के पास मुख का सुशोभित होना और अन्न से युक्त होना जैसे फल हमें दिखाई नहीं पड़ते । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अर्थवाद वाक्यों का कोई फल नहीं है । इसीलिए उनका प्रामाण्य भी नहीं है ।

सिद्धान्तपक्षी की ओर से कहा जा सकता है कि ऐहिक फल का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का (फल न दे सकने के कारण) विसंवाद (असत्य) के कारण प्रामाण्य न मानने पर भी आमुष्मिक फल का प्रतिपादन करने वाले अर्थवाद वाक्यों का तो प्रामाण्य माना ही जाना चाहिए, ऐसी आशङ्का करके आचार्य अगला सूत्र प्रस्तुत करता है—

'अन्य कार्यों की निरर्थकता से अर्थवाद वाक्यों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है' ।

ऐसा सुना जाता है—'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति (पूर्णाहुति के द्वारा (व्यक्ति) समस्त कामों को प्राप्त कर लेता है)' 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति (पशुबन्ध यज्ञ करनेवाला समस्त लोकों को जीत लेता है)' 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्राह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (जो अश्वमेध यज्ञ करता और जो इसे इस प्रकार जानता है वह मृत्यु को पार कर जाता है, पाप को पार कर जाता है, ब्राह्महत्या को पार कर जाता है)' । इनमें से प्रथम अर्थवाद वाक्य में पूर्णाहुति के द्वारा सभी कामनाओं की प्राप्ति

अग्निहोत्रादीनि उत्तरकालीनानि अनर्थकानि स्युः । तथानिरु षपशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादानामानर्थक्यम् । अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात् तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात् । तस्मादामुष्मिकफलवाक्यानामपि अप्रामाण्यम् ।

ननु मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्, तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

‘अभागिप्रतिषेधात्’ (जै० १।२।५) इति ।

‘न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि’ (तै० सं० ५।२।७।१)

बताई गई है, किन्तु यदि अग्न्याधेय में स्थित पूर्णाहुति के द्वारा ही समस्त कामनाओं की प्राप्ति हो जाय तो उसके उत्तरकाल में किए जाने वाले समस्त अग्निहोत्र आदि कार्य निरर्थक हो जायेंगे । इसी प्रकार द्वितीय अर्थवाद वाक्य को यदि प्रामाणिक माना जाय तो प्रसिद्ध पशुबन्ध यज्ञ मात्र के अनुष्ठान से समस्त लोकों की विजय से ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों की निरर्थकता सिद्ध होती है । तृतीय अर्थवाद वाक्य के अनुसार यदि ‘अश्वमेध यज्ञ करने और उसको समझने मात्र से ही ब्रह्महत्या आदि को पार कर जाने की बात को माना जाता है तो यह बात तो अध्ययन काल में किए गए अश्वमेध के ज्ञान से भी हो जाती है और उस स्थिति में अश्वमेध जैसे महान यज्ञों का अनुष्ठान व्यर्थ हो जाता है । इस प्रकार यह सिद्ध है कि न केवल ऐहिक फल के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्य ही अपितु आमुष्मिक फल के प्रतिपादन अर्थवाद वाक्य भी अप्रमाण हैं ।

फल प्रतिपादक अर्थवादों के प्रामाण्य को यदि न भी माना जाय तो भी निषेधात्मक वाक्यों के प्रामाण्य की उनमें किसी विरोध के न होने कारण मानना ही होगा, इसकी आशङ्का आचार्य प्रकृत सूत्र प्रस्तुत करता है—‘जिसका निषेध नहीं किया जाना चाहिए था । उसका निषेध करने के कारण निषेधात्मक अवस्थाओं का प्रामाण्य नहीं है’ ।

‘न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि’ (अग्निचयन न पृथिवी पर करना चाहिए न अन्तरिक्ष में करना चाहिए न द्युलोक में करना चाहिए) इस वाक्य के द्वारा अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन का निषेध किया गया है जिसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे दोनों प्रतिषेध के पात्र नहीं हैं । न तो

इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नास्ति, तत्र चयनप्रसङ्ग-
स्यैव अभावात् ।

मा भूत्तर्हि निषेधानां प्रामाण्यम् । 'बबरः प्रावहणिरकामयत' (तै०
सं० ७।१।१०।२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुप-
लम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६) इति ।

बबरादिरूपेण अनित्येनार्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः
पूर्वमभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत ।

अन्तरिक्ष में और नहीं द्युलोक में अग्नि का अस्तित्व है, इसलिए वहाँ अग्नि-
चयन का प्रसङ्ग ही नहीं है । ऐसे अनिषेध्य पदार्थों का निषेध करने के कारण
अर्थवाद प्रमाणकोटि में नहीं आते ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी की ओर से यह कहा जा सकता है कि निषेधात्मक अर्थ-
वादों के अप्रामाण्य को (उक्त दोष के कारण) हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु
'बबरः प्रावहणिरकामयत' (प्रवहणपुत्र बबर ने कामना की) इत्यादि पूर्वपुरुषों
के वृत्तान्त की चर्चा करनेवाले अर्थवादों के प्रामाण्य को, उनमें किसी विरोध के
न प्राप्त होने के कारण, आपको भी स्वीकार करना होगा, यह आशङ्का कर
आचार्य अगला सूत्र प्रस्तुत करता है—

'अनित्य पदार्थों के संयोग के कारण अर्थवादों का प्रामाण्य नहीं है' ।

बबर आदि अनित्य (कतिपयदिनस्थायी नश्वर) पदार्थों के साथ इस
अर्थवाद वाक्य का संयोग होने से यह सिद्ध होता है कि यह वाक्य बबर आदि
के पूर्व नहीं था । इस आधार पर वेद का यह वाक्य भी कालिदास आदि के
वाक्यों के समान किसी व्यक्ति विशेष का रचा हुआ (पौरुषेय) है, ऐसा माना
जाने लगेगा, जो हम सबकी मान्यताओं के विरुद्ध है ।

अधिक क्या कहें, अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं
होता । यह पर्वपक्ष है ।

किं बहुना ? सवथापि नास्त्येव अर्थवादानां प्रामाण्यम् इति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

‘विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः’ (जै० १।२।७) । तुशब्दोऽथवादानामप्रामाण्यं वारयति । ‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा’ इत्येवमादीनामर्थवादानां ‘वायव्यं श्वेतमालभेत’ (तै० सं० २।१।११) इत्यादिना विधिना सह एकवाक्यत्वाद् अस्ति धर्मं प्रामाण्यम् । न च विधिवाक्यस्य अर्थवादतैरपेक्ष्येण पदान्वयसम्पूतस्तत्र अर्थवादानां नास्ति उपयोग इति

अब सिद्धान्तपक्ष को प्रस्तुत किया जा रहा है । सिद्धान्तपक्ष (ब्राह्मण के अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य है) ‘अर्थवाद वाक्यों की ब्राह्मणगत विधिभाग के साथ एकवाक्यता होने के कारण वे विधिवाक्यों की स्तुति (प्रशंसा) के निमित्त हैं, ऐसा मानना चाहिए’ ।

सूत्रगत ‘तु’ शब्द अर्थवादों के अप्रामाण्य का निराकरण करता है । ‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा’ (वायु गतिशील देवता है) इत्यादि अर्थवाद वाक्यों की ‘वायव्यं श्वेतमालभेत’ (वायु में उत्पन्न होनेवाले श्वेत रंग के (प्राणी) का आलम्भन करे) इत्यादि विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता के कारण उनका धर्म में प्रामाण्य है—भाव यह है कि ब्राह्मण का प्रत्येक अर्थवाद वाक्य किसी-न-किसी विधिवाक्य की प्रशंसा में विनियुक्त है । इस प्रकार अर्थवाद वाक्य भी परम्परया किसी विधि का ही प्रतिपादन करते हैं । यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो कर्म के अप्रेरक होने के कारण वे निरर्थक हो जाएँगे । यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि विधिवाक्य अर्थवादों से निरपेक्ष (स्वतन्त्र) रहकर भी अपने पदों के अन्वय की पूर्ति कर लेते हैं, अतः उसके लिये अर्थवादों का कोई उपयोग नहीं है (और ऐसी स्थिति में उनके बीच एकवाक्यता की कल्पना करना ठीक नहीं है) । क्योंकि वे अर्थवाद वाक्य पुरुषों की प्रवृत्ति की आकांक्षा करनेवाले विधिवाक्यों की स्तुति के निमित्त प्रयुक्त होते हैं और स्तुति से प्रलोभित होकर पुरुष उधर प्रवृत्त होता है । भाव यह है कि विधिवाक्य पुरुष को कर्म (यज्ञ) की ओर प्रवृत्ति करते हैं किन्तु उनको यह प्रवृत्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक कि वे विधिवाक्य की ओर आकृष्ट न हों । अर्थवादवाक्य

शङ्कनीयम् । ते हि अर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिमाकाङ्क्षतां विधीनां स्तुत्य-
र्थत्वेनोपयुक्ताः स्युः । स्तुत्या च प्रलोभितः पुरुषः तत्र प्रवर्तते ।

ननु अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्य-
ताप्रयासेन इत्याशङ्क्याह—

‘तुल्यं च साम्प्रदायिकम्’ (जै० १।२।८) इति ।

अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत्
साम्प्रदायिकम् । तच्च विधीनामर्थवादानां च समानम् । तस्मात्
विधिवदेतेषामपि प्रमादपाठो न भवति ।

विधिवाक्य की प्रशंसा करके पुरुष को उस ओर आकृष्ट कर देते हैं, फलतः उसकी
कर्म की ओर प्रवृत्ति हो जाती है । इस प्रकार अर्थवाद वाक्य भी विधिवाक्य
के कार्य का असाक्षात् सम्पादन करते हैं । यही उनकी एकवाक्यता और यही
उनका उपयोग है ।

पूर्वपक्षी इस पर कह सकता है कि अर्थवाद वाक्य तो वेद में प्रमादवश
पढ़ लिए गए हैं, इसलिए वे उपेक्षणीय हैं । ऐसी स्थिति में उनकी विधिवाक्यों
के साथ एकवाक्यता का प्रयास करना व्यर्थ है । इस प्रकार की आशङ्का करके
आचार्य जैमिनि इस सूत्र में कहते हैं—

‘साम्प्रदायिकता की दृष्टि से दोनों (अर्थवाद और विधि) समान हैं’ ।

सूत्र में प्रयुक्त साम्प्रदायिक शब्द का अर्थ है अनध्याय के दिनों में जिन
दिनों वैदिक वाङ्मय को पढ़ना-पढ़ाना वर्जित है, उनमें वेद के अध्ययन और
अध्यापन के वर्जन आदि के जो नियम हैं, उनके साथ गुरु परम्परा से चला आता
हुआ अध्ययन । यह साम्प्रदायिकता विधिवाक्यों और अर्थवादों में समान है,
अर्थात् जिस विधिवाक्यों का अध्ययन अनध्याय के दिनों में पठन-पाठन के वर्ज-
नादि नियमों के साथ गुरुपरम्परा से चला आया है उसी प्रकार अर्थवादों का
भी । इसलिए विधिवाक्यों के समान इन अर्थवाद वाक्यों का भी पाठ प्रमाद के
कारण नहीं है ।

ननु शास्त्रदृष्टविरोधाच्च इत्येवमर्थवादेषु अनुपपत्तिरुक्ता इत्याशङ्क्य आह—

‘अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोग-भूतस्तस्मादुपपद्येत (जै० १।२।९) इति ।

‘स्तेनं मनः’ इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिरप्राप्ता, प्रयोगस्य-अनुत्तत्वात् । प्रयोगे हि स्तेयादीनाम् उच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात् । न चात्र स्तेयं कर्तव्यमिति प्रयोग उच्यते, किंतु स्तेयशब्दार्थ एव उच्यते । न च स्तेयशब्दार्थः प्रयोगभूतः । तस्मात् शब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावादमर्थवादः उपपन्नः एवः ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसी स्थिति में भी पूर्वपक्षी ने ‘शास्त्रदृष्ट विरोधाच्च’ इस सूत्र के द्वारा अर्थवादों में जो विप्रतिपत्ति दिखाई है वह तो ज्यों की त्यों रहेगी उसका निराकरण तो आपके उपर्युक्त तर्कों से नहीं हुआ। ऐसी आशङ्का उपस्थित कर आचार्य उत्तर देते हैं—

‘अनुपत्ति प्राप्त नहीं है, प्रयोग होने पर विरोध होता, शब्द का अर्थ प्रयोग के हेतु नहीं है, इसलिए अर्थवाद है’ ।

‘स्तेन मनः’ इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में पूर्वपक्षी की ओर से शास्त्र से विरोध आदि की जो अनुपपत्ति प्रदर्शित की गई है, वह प्राप्त नहीं होती (उस पर लागू नहीं होती) क्योंकि उसका प्रयोग करने के लिए नहीं कहा गया है । स्तेय आदि के प्रयोग का कथन करने पर (‘चोरी करो या करना चाहिए’ जैसे प्रयोगों का उच्चारण करने पर) ‘असत्यं न वदेत्’ जैसे शास्त्रीय वाक्यों से विरोध होता है । प्रस्तुत मन्दर्भ में ‘स्तेयं कर्तव्यम्’ (चोरी करनी चाहिए) इस प्रकार के प्रयोग का कथन नहीं किया गया है, किन्तु स्तेय शब्द का अर्थ मात्र कहा है, और स्तेय शब्द का अर्थ प्रयोग का विषय नहीं है ! इसलिए प्रस्तुत अर्थवाद वाक्य में शब्द के अर्थ का ही कथन किया गया है ऐसी स्थिति में उसके साथ शास्त्रीय विरोध की संभावना ही नहीं हो सकती । इस प्रकार यह अर्थ संगत ही है ।

ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात् ।
'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ताः' (तै० सं०
५।४।४।३) इत्यत्र वेतसावके विधीयेते आपश्च स्तूयन्ते इति वैयधिक-
मित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति ।

तुशब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति । गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः । यथा
लोके कश्मीरभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं
मन्यते, एवमत्रापि अद्भयो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव

यहाँ पूर्वपक्षी का कथन हो सकता है कि आपने (सिद्धान्तपक्षी ने) जो यह
कहा है कि अर्थवाद-वाक्य विधिवाक्यों की स्तुति के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं, इस
लिए उनको एकवाक्यता है; वह ठीक नहीं क्योंकि उन दोनों (अर्थवाद और
विधिवाक्य) में अलग-अलग विषयों (वैयधिकरण) का प्रतिपादन किया मिलता है ।
तात्पर्य यह कि विधिवाक्य के द्वारा विधान किसी और का किया जाता है और
अर्थवाद वाक्य में प्रशंसा उससे भिन्न की जाती है, जबकि एकवाक्यता के नियम
के अनुसार प्रशंसा उसी की जानी चाहिए, जिसका विधान किया गया हो ।
उदाहरण के लिए 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षति आपो वैः' शान्ताः
(वेत की शाखा और सवार के द्वारा अग्नि का विकर्षण करे, जल शान्त है) में
'वेतस विकर्षति' इस विकर्षवाक्य का विधान किया गया है 'वेतस' और 'उनका
(सिरवा) का और 'आपो वै शान्ताः' इस अर्थवाद वाक्य की स्तुति व्यक्त की गई
है, जल की (क्योंकि उनको 'शान्तः' कहकर उनकी विशेषता को प्रकट किया गया
है) इस आशंका का उत्तर आचार्य निम्नलिखित सूत्र में देते हैं—

'(यहाँ) गुणवाद है' ।

सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द अर्थवादवाक्य और विधिवाक्य के वैयधिकरण का
निराकरण करता है । यहाँ पर गुण का कथन विवक्षित है । जिस प्रकार लोक में
कश्मीर का रहने वाला देवदत्त कश्मीर देश की प्रशंसा होने पर स्वयं को प्रशंसित
समझता है, उसी प्रकार जल से उत्पन्न होनेवाले वेत और शैवाल दोनों जल के
प्रशंसित होने पर स्वतः प्रशंसित हो जाते हैं । शान्त जलों से उत्पन्न होने के

भवतः । शान्ताभ्योऽभ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्यानिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः ।

‘सोऽरोदीत्’ इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गाद् ‘बर्हिषि रजतं न देयम्’ (तै० सं० १।५।१।२) इति तन्निषेधेन विधेयेनार्थवादस्यैकवाक्यत्वम् । तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरूपो गुणोऽत्र विवक्षितः । तेन च गुणेन रजतदानानिवारणरूपो विधिः स्तूयते । यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभत्वमत्यन्वतमसत् तथापि यथोक्त-
रीत्या विधेःस्तुतिः सम्पद्यते ।

कारण बेंत और शैवाल दोनों स्वयं भी शान्त रहते हुए यजमान के अनिष्ट को शान्त कर देते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में वैयधिकरण न होकर अर्थवाद वाक्य के गुणकथन के द्वारा विधिवाक्य का गुणकथन ही अभिप्रेत है ।

अश्रु के वर्ण का सोऽरोदीत्’ इस अर्थवाद वाक्य में भी; रजत के गिरे हुए अश्रु होने के कारण रजत दान करने पर घर में भी रोदन का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से ‘बर्हिषि रजतं न देयम्’ (यज्ञ में रजत का दान न करे) इस रजतदान के निषेधरूप विधिवाक्य के साथ अर्थवाद वाक्य की एकवाक्यता हो जाती है । इस अर्थवाद वाक्य में रजतदान के अभाव में रोदन का अभाव रूप गुण विवक्षित है । और उस गुण के द्वारा रजतदान के निवारणरूप विधि की स्तुति होती है । यद्यपि रजत का अश्रु का उत्पादक होना अत्यन्त असत्य है; फिर भी उपर्युक्त पद्धति से विधि की स्तुति सम्पन्न हो जाती है—इस पूरे अनुच्छेद का भाव यह है कि ‘सोऽरोदीत्’ इस अर्थवादवाक्य का सम्बन्ध (एकवाक्यता) ‘बर्हिषि रजतं न देयम्’ इस विधिवाक्य के साथ है । विधिवाक्य में ‘रजतदानाभाव’ रूप विधि का प्रतिपादन किया गया है । उधर अर्थवाद वाक्य में ‘रुद्र’ शब्द का प्रयोग रजत के लिए किया गया है, जिसका आधार उसका रोदन बतलाया गया है । क्योंकि रोदन से आँसू उत्पन्न होते हैं, जिनका रंग रजत (चांदी) जैसा होता है इसीलिए रजत को ‘रुद्र’ कहा गया है । स्पष्ट है कि अर्थवाद वाक्य में रजतके दान के अभाव में रोदन का अभाव बतलाया गया है, अर्थात् अर्थवाद वाक्य से इस अर्थ की प्रतीति होती है कि रजत का दान न किया जाये तो रोदन भी न होगा, यह एक गुण है और इस गुण के द्वारा ‘रजत का दान करे’ इस विधि की स्तुति हो जाती है । इस प्रकार दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है और अर्थ-
वाद निरर्थक न होकर सार्थक सिद्ध हो जाता है ।

‘यः प्रजाकाम पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत’ (तै० सं० २।१।१।४, ५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते । यस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थम् आलभ्य प्रजाः पशूँश्च लब्धवान् तस्मात् प्रजादिसम्पादकोऽयं तूपरः इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः ।

‘आदित्यः प्रायणीयश्चरुः’ (तै० सं० ६।१।५।१) इत्येष विधिः ‘दिशो न प्राजानन्’ इत्यनेन दिङ् मोहेन स्तूयते । यथेयम् अदितिर्देवता

‘यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत’ (जो सन्तान और पशु की कामना करने वाला हो, वह प्रजापति देवता के इस बिना सींगवाले (तूपर—बिना सींग का पशु) अज (का आलम्बन करे) इस विधिवाक्य में ‘अज का वध करे’ यह विधि है और इसकी स्तुति ‘स आत्मनो वपामुदखिदत्’ (उसने अपनी वपा को फाड़ डाला), इस अर्थवाद वाक्य में प्रतिपादित प्रजापति के वपोत्खेद के द्वारा की गई है । क्योंकि प्रजापति ने अपनी वपा को भी उखाड़कर और आग में उसे हवन करने के पश्चात् उससे उत्पन्न हुए बिना सींग के अज का अपने लिए आलम्बन (वध) करके प्रजाओं और पशुओं को प्राप्त किया, इसलिए तूपर (बिना सींग का पशु) प्रजा आदि को सम्पन्न करने वाला है’ यह जो तूपर का गुण है, उसका कथन ही यहाँ विवक्षित है—भाव यह है कि विधि वाक्य में ‘तूपर का आलम्बन करे’ इस विधि का प्रतिपादन किया गया है और अर्थवाद ‘वाक्य में प्रजापति के द्वारा अपनी वपा का उत्खेद बताया गया है, जो कि ऊपर से निरर्थक प्रतीत होता है, किन्तु जब हम देखते हैं कि प्रजापति ने अपनी वपा का उत्खेद उस वपा को प्राप्त करने के लिए किया, जिसके द्वारा प्रजाओं और पशुओं की प्राप्ति होती है, तो यह वाक्य तूपर की स्तुति करने के कारण विधिवाक्य का अङ्ग बन जाता है और फलतः सार्थक हो जाता है ।

‘आदित्यः प्रायणीयश्चरुः’ (आदिति देवता के चरु का प्रायण करे) यह विधिवाक्य है और इसकी स्तुति ‘दिशो न प्राजानन्’ (वे दिशाओं को न जान

दिङ्मोहमपि अपनीय दिङ्विशेषं ज्ञापयति, तथा बहुविधकर्मसमुदायरूपे सोमयागे अनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवमदितिदेव-
तागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः । स्वकीयवपोत्खेदो देवयजनाध्यव-
सानमात्रेण दिङ्मोहश्च इत्युभयमस्तु वा मा वा, सर्वथापि स्तुतिपर-
त्वम् अभ्युपगच्छताम् अस्माकम् न किञ्चिद् होयते । 'शिखा ते वर्धते
वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब' इत्यादी अविद्यमानेनापि अर्थेन लोके स्तुति-
दर्शनात् ।

सके) यह अर्थवाद वाक्य दिङ्मोह के द्वारा करता है । (भाव यह है कि)
जिस प्रकार 'यह अदिति देवता दिङ्मोह को भी नष्ट करके विशेष दिशा का
ज्ञान कराती है, उसी प्रभार वह अनेक प्रकार के कर्मों के समुदाय रूप सोमयाग
में अनुष्ठान सम्बन्धी भ्रम को दूर कराती है तो कोई बड़ी बात नहीं है, अर्थात्
जो दिङ्मोह के नाश जैसे कठिन कार्य को कर सकती है, उसके लिए अनुष्ठान
के भ्रम को दूर करना साधारण सी बात है । इस प्रकार 'दिशो न प्राजानन्' इस
अर्थवाद वाक्य में अदिति देवता के गुण का कथन ही विवक्षित है । अतः यह
वाक्य भी विधिवाक्य का अङ्ग हो जाने के कारण सार्थक है ।

प्रजापति के द्वारा अपनी वपा का उत्खेद किया गया हो या न किया गया
हो तथा देवयजन के अध्यवसाय (सम्पादन) मात्र से दिङ्मोह हुआ हो या न
हुआ हो, ये समस्त अर्थवाद वाक्य पूर्णतया विधिवाक्य की स्तुति करने वाले हैं,
ऐसा मानने वाले हम लोगों की कोई हानि नहीं—अर्थात् दोनों में से किसी भी
सिद्धान्त को मानने पर हमारी कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि हमारी मान्यता
है कि अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य की केवल स्तुति करनेवाले होते हैं । और यह
स्तुतिकथन न केवल विद्यमान अर्थ के द्वारा ही अपितु अविद्यमान अर्थ के द्वारा
भी हो सकता है । उदाहरण के लिए 'शिखा ते वर्धते वत्स ! गुडूचीं श्रद्धया पिब'
(वत्स ! गुडूची को श्रद्धा से पियो (ऐसा करने से) तुम्हारी शिखा बढ़ जायेगी
इत्यादि लौकिक उदाहरणों में अविद्यमान अर्थ के द्वारा भी स्तुति देखी जाती
है—कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में गुडूचीपान से
शिखावर्द्धन रूप अविद्यमान अर्थ (गुडूची का रस पीने से शिखा नहीं बढ़ती है

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोज्ञतवादिनी वाग् इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'रूपात् प्रायात् (जै० १।२।११) इति ।

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति (मै० सं० ४।८।२।३) इत्येतं विधिं स्तोतुमयमर्थवाद उच्यते । यथा लोके 'किमृषिणा देवदत्त एव पूजयितव्यः इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषौ उपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्, एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं मनसः स्तेनरूपत्वं वाचोऽनृतवादित्वं चोपन्यस्यते । तत्र गुणवादेन शब्दार्थौ योजनीयः । यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुणः । प्रायेण

इसलिए शिखा वर्द्धन अविद्यमान है) के द्वारा भी गुडूची की प्रशंसा हुई है, उसी प्रकार उपर्युक्त वैदिक उदाहरणों में भी सम्पन्न हो जायेगा ।

अब पूर्वपक्षी ने सिद्धान्तपक्षी के सिद्धान्त में शास्त्र विरोध को दिखाने के लिए 'स्तेनं मनोज्ञतवादिनी वाक्' यह जो उदाहरण दिया था, उसका उत्तर सिद्धान्तपक्षी अगले सूत्र में प्रस्तुत कर रहा है—

'प्रायः (मन के प्रच्छन्न और वाणी के अनृतवादिनी) होने के कारण'

(भाव यह है) 'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति' (हाथ में सोना होता है, जब वह ग्रहण करता है) इस विधिवाक्य की प्रशंसा करने के लिए 'स्तेनं मनः' इस अर्थवाद वाक्य का कथन किया जाता है । जिस प्रकार लोक के 'क्या ऋषि को केवल देवदत्त की ही पूजा करनी चाहिए' ? इस वाक्य में देवदत्त की पूजा की स्तुति करने के लिए ही ऋषि में उदासीनता का विन्यास किया गया है, उसी प्रकार हाथ में सोने के ग्रहण की प्रशंसा करने के लिए ही मन के चोर होने और वाणी के मिथ्यावादिनी होने को उपन्यस्त किया गया है । उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य के शब्दों के अर्थों की योजना गुण के कथन के द्वारा कर लेनी चाहिए । जिस प्रकार चोर प्रच्छन्न होते हैं, उसी प्रकार मन भी प्रच्छन्न होता है, इस प्रकार प्रच्छन्न होना यहाँ गुण है । वाणी प्रायः झूठ बोलने वाली होती है, इसलिए प्रायिकत्व (प्रायः होना) यहाँ पर गुण है । इसके विपरीत हाथ

वागनृतं वक्ति इति प्रायिकत्वं तत्र गुणः । हस्तस्तु न प्रच्छन्नो नापि अनृतबहुलः । अतोहस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते ।

यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'दूरभूयस्त्वात्' (जै० १।२।१२) ।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योति—
ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' इत्येतौ विधी (ऐ० ब्रा० ५।५।६) स्तोतुं सोऽर्थवादः । यस्मात् अर्चिर्दिवा न दृश्यते तस्मात् सूर्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः । य स्मात् रात्रावर्चिरेव दृश्यते तस्मादग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्यः सूर्यमन्त्रश्च दिवा । इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः । धूमा-
चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूरभूयस्त्वगुणनिमित्ततः । भूयसि हि दूरे

न तो प्रच्छन्न रहता है और न प्रायः मिथ्यावादी हो होता है, इसीलिए 'हाथ में सोना धारण करना प्रशस्त है' इस प्रकार की स्तुति (अर्थवाद वाक्य) के द्वारा की गई है ।

और पूर्वपक्षी ने सिद्धान्तपक्षी के सिद्धान्त में दृष्टविरोध प्रदर्शित करने के लिए जो 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' उदाहरण दिए हैं उनका उत्तर इस सूत्र में आचार्य प्रस्तुत करता है—

'अधिक दूर होने के कारण (वे स्पष्ट दृष्टिगत नहीं होते)' ।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' (अर्थात् सायंकालं अग्नि के लिए और प्रातःकाल सूर्य के लिए हवन करे) इन दोनों विधिवाक्यों की स्तुति के लिए 'धूम एव' इस अर्थवाद वाक्य को प्रस्तुत किया गया है । क्योंकि दिन में अग्नि को ज्वाला दिखाई नहीं पड़ती, इसलिए प्रातःकाल सूर्यमन्त्र का ही प्रयोग करना चाहिए । और क्योंकि रात को अग्नि की ज्वाला ही दिखाई पड़ती है, इसलिए रात में अग्निमन्त्र का और दिन में सूर्यमन्त्र का प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य के द्वारा दोनों विधिवाक्यात्मक मन्त्रों की स्तुति की गई है । अग्नि के

पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यन्ते, किंतु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव । तद्वदत्रापि ।

यप्ययद् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्' (जै० १।२।१३) इति । 'प्रवरे प्रत्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० सं० १।४।११) इत्यस्य विधेः स्तावकोऽयमर्थवादः । यदि यजमानो 'देवाः पितरः' (तै० ब्रा० ३।७।१।४) इत्यादिमन्त्रेण प्रवरमनुमन्त्रयेत् तदानीमब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो भवेदिति अनुमन्त्रणस्य स्तुतिः । 'न चैतद् विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते । यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्त्तृरुत्पादयितुर्गारस्यादि पुत्रो दृश्यते । अतः पत्युपपत्योरुभयोः पुत्रदर्शनात्

धूम के रात्रि में और ज्वाला के दिन में न दिखलाई की जो बात कही गई है, वह अग्नि के अत्यधिक दूर होने के कारण है । अत्यधिक दूरी पर स्थित पर्वत के अग्रभाग पर विद्यमान वृक्ष आदि भी स्पष्ट रूप में दिखलाई नहीं पड़ते किन्तु तिनकों के समान उनके दर्शन का आभास मात्र होता है । उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए ।

पूर्वपक्षी ने दृष्टविरोध के लिए 'न चैतद् विद्मो वयं वा स्मोऽब्राह्मण वा' यह जो दूसरा उदाहरण दिया है उसका उत्तर आचार्य इस सूत्र में वेता है—

'स्त्री के अपराध के कारण उपपत्ति के भी पुत्र होने से' । (भाव यह है) 'प्रवरे प्रत्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' अध्वर्यु के द्वारा यजमान के प्रवर अर्थात् गोत्रप्रवर्तक ऋषि का उच्चारण किए जाने पर यजमान 'देवाः पितरः' इस मन्त्र का कथन करे) इस विधिवाक्य की स्तुति ही 'न चैतद् विद्मः' इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा की गई है । यदि यजमान 'देवाः पितरः' इस मन्त्र के द्वारा प्रवर अर्थात् गोत्रप्रवर्तक ऋषि का अनुमन्त्रण करे तो उस समय वह अब्राह्मण होने हुए भी ब्राह्मण हो जाता है । इस प्रकार इस अर्थवाद के द्वारा अनुमन्त्रण की प्रशंसा हुई है । उक्त अर्थवाद वाक्य का 'न चैतद् विद्मः' यह अज्ञान को प्रगट करनेवाला अंश ब्राह्मणत्व के दुर्ज्ञेयत्व रूप गुण के लिए प्रयुक्त किया गया है अर्थात् उस अंश के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि अमुक व्यक्ति ब्राह्मण है या नहीं, यह जानना अत्यन्त कठिन है । (क्योंकि) जहाँ स्त्री का (व्यभिचाररूप) अपराध होता है वहाँ कर्त्ता अर्थात् पुत्र को उत्पन्न करनेवाले उपपत्ति के भी पुत्र का दर्शन होता

स्वकीयजन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम् । अनेनाभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः । न हि तत्र दृष्ट्यमानं स्वब्राह्मण्यमपविदतुं 'न चैतद् विद्मः' इत्युपन्यस्तम् ।

यदपि शास्त्रीयदर्शनविरोधाय उदाहृतं 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४) इति ।

'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति प्राचीनवंशस्य विधिः । तस्यशेषोऽयं 'मो हि तद् वेद' इति । धूमाद्युपद्रवपरिहारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते । स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकम् ।

है । इसलिए पति और उपपति दोनों के ही संयोग से स्त्री के पुत्र उत्पन्न हो सकने के कारण व्यक्ति का अपना जन्म कैसा (किससे हुआ) है, यह जानना अत्यन्त कठिन है । उक्त अर्थवाद वाक्य का प्रयोग इसी अभिप्राय से किया गया है, इसलिए उसमें पृष्टविरोध नहीं है । इसमें स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़नेवाले व्यक्ति के अपने ब्राह्मणत्व का निषेध करने के लिए 'न चैतद् विद्मः' इस अंश का प्रयोग नहीं किया गया है—भाव यह है कि 'न चैतद् विद्मः' यह अंश व्यक्ति के स्पष्ट ब्राह्मणत्व का निषेध नहीं करता है, अपितु जानने की उस कठिनाई को व्यक्त करता है, जो स्त्री के अपराध के कारण उसके पति और उपपति दोनों से उत्पत्ति होने की संभावना के होने पर 'मैं किसका पुत्र हूँ' इस रूप में सामने आती है ।

पूर्वपक्षी ने शास्त्रीय ज्ञान से विरोध दिखाने के लिए जो 'को हितद् वेद यद्यमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा' इस वाक्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है उसका उत्तर इस सूत्र में दिया जा रहा है—

'आकालिक अर्थात् बहुत दिन बाद मिलने वाले फल को प्राप्त करने की इच्छा (ही उक्त अर्थवाद के अनिश्चय का कारण है)' ।

'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (यज्ञशाला के चारों ओर (दिशाओं) द्वारा का निर्माण करे) इस मन्त्र में पुराने वासों के द्वारा द्वार के निर्माण का विधान किया गया है, अर्थात् यह विधिवाक्य है । 'को हि तद् वेद' यह अर्थवाद वाक्य उसी का पूरक है (शेष-पूरक) । धूम आदि के उपद्रवों के निराकरण रूप प्रत्यक्ष फल के

अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्येकालीनं न तु इदानीन्तनमित्यर्थं तस्य ईप्सा प्राप्तुमिच्छा । सा च 'को हि तद्' इति अनिश्चनोपन्यासे कारणम् । यथा भाविकालीनः पौत्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्ग-प्राप्तिर्भाविकालोनेति गुणयोः शान्तिश्चनोपन्यासः । धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वात् निश्चित इत्यभिप्रायः ।

यदप्यन्यत् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ता० म० ब्रा० २०।१३।६) इति, तत्रोत्तरं सूत्रयति—

द्वारा द्वारविधि की प्रशंसा की गई है—अर्थात् हवन करने से उत्पन्न हुए धुएँ से अन्य उपद्रव (कष्ट) द्वार से धुएँ के निकल जाने के कारण शान्त हो जाते हैं । यह उपद्रव का शान्त हो जाना, प्रत्यक्ष फल है । इसके द्वारा द्वारविधि की प्रशंसा की गयी है । (इसके विपरीत) स्वर्ग को प्राप्तिरूप फल तो आकालिक है । आकालिक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है, अकाल अर्थात् भविष्य के दूरवर्ती काल में होनेवाला—बहुत दिनों बाद होने वाला न कि इस समय (तत्काल) होनेवाला । उस आकालिक फल को प्राप्त करने की इच्छा ही आकालिकेप्सा कहलाती है । यह आकालिक फल को प्राप्त करने की इच्छा ही 'को हितद् वेद' इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा प्रतिपादित अनिश्चय का कारण है । जिस प्रकार पुत्र और पौत्रादि से सम्बन्धित भविष्यकालीन वृत्तान्त के सम्बन्ध में निश्चय नहीं किया जा सकता अर्थात् अमुक व्यक्ति के कितने पुत्र और पौत्रादि होंगे ? होंगे भी या नहीं—' इत्यादि प्रश्नों का उत्तर निश्चयात्मक रूप से नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार भविष्यकाल में होनेवाली स्वर्ग की प्राप्ति के भी सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । इस सामान्य गुण (विशेषता) के कारण ही अर्थवाद वाक्य में अनिश्चय का उपन्यास किया गया है भाव यह है कि अर्थवाद वाक्य के द्वारा जो अनिश्चय की अभिव्यक्ति हो रही है, वह यज्ञ के स्वर्गप्राप्ति रूप अनिश्चित फल को व्यक्त करने के लिए है । इसलिए उसमें कोई शास्त्रीय विरोध नहीं है जैसा कि पूर्वपक्षी का कथन है । इसके विपरीत द्वार के द्वारा धूमादि के निकल जाने से धूमादि का परिहार प्रत्यक्ष होने के कारण निश्चित है, यह अभिप्राय है ।

दृष्टविरोध हेतु पूर्वपक्षी ने जो 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद, यह उदाहरण दिया है, उसका उत्तर इस सूत्र में दिया जा रहा है—

‘विद्याप्रशंसा’ (जै० १।२।१५) इति ।

सोऽयं गर्गत्रिरात्रविधेः शेषः तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः, किमुत अनुष्ठानमिति स्तूयते । यथा कर्णभिरणादना मुखं शोभितं भवति, एवं वेदितुस्तत्साहेन विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैर्बुद्धीक्ष्यते । अतः शोभासादृश्यगुणयोगात् ‘शोभते इत्युच्यते’ ।

यदप्यन्यद् विरोधाय उदाहृतम् ‘आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद सोऽपि वेदानुमन्त्रणविधेः शेषः । अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्ववद् योजनीया । वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति । ततः प्रतिग्रहेण अन्नं प्राप्नोति । तस्मादीदृशं गुणमभिप्रेतं ‘वाजी जायते इत्युक्तम्’ ।

अर्थवाद के द्वारा जो कुछ कहा गया है वह) विद्या की प्रशंसा है ।

‘शोभतेऽस्य मुखम्’ यह अर्थवादवाक्य गर्गत्रिरात्र नामक यज्ञ विधि का पूरक है अर्थात् यह गर्गत्रिरात्र यज्ञ के सन्दर्भ में आया हुआ है, इसलिए उसका स्तावक है । उस गर्गत्रिरात्र के सम्बन्ध में जानकारी का होना भी मुख की शोभा का हेतु है, उसके अनुष्ठान के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या । इस प्रकार उच्च अर्थवाद वाक्य के द्वारा गर्गत्रिरात्र विधि की प्रशंसा हो जाती है । जिस प्रकार कर्णभिरण आदि के द्वारा मुख की शोभा होती है उसी प्रकार गर्गत्रिरात्र के जानने वाले के उत्साह से विकसित मुख को शिष्य लोग सुशोभित-सा देखते हैं, अर्थात् जाननेवाले का मुख जानने के उत्साह से खिला होता है और उसके शिष्य उसके उस मुख को सुशोभित समझते हैं । इसलिए शोभा की समानता रूप गुण के योग के कारण ‘शोभते’ ऐसा कहा गया है ।

पूर्वपक्षी ने विरोध को दिखाने के लिए जो ‘आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद यह उदाहरण दिया है वह भी वेदानुमन्त्रण विधि का पूरक है । इस अर्थवाद के सम्बन्ध में भी ‘जब उसको जान लेनेवाला ही अन्नवाला हो जाता है तब उसके अनुष्ठान के सम्बन्ध में कहना ही क्या । इस प्रकार कैमुतिक न्याय से स्तुति की पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिए । जाननेवाले का पुत्र अपने पिता से शिक्षा से स्वयं भी विद्वान् होता है और विद्वान् बनने के पश्चात् वह अन्न प्राप्त करता है । इसी अभिप्राय से अर्थवाद वाक्य में ‘वाजी जायते’ ऐसा कहा गया है ।

यदप्यन्यानर्थक्याय उदाहृतं 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति'
इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १।२।१६) ।

'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' इत्यस्य विधेः शेषोऽयम् । सर्वकामावाप्तिहेतुत्वा प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते । यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम् । एवं पूर्णाहुत्या कर्मसर्वत्वे यत् फलं तस्मिन् अधिकारे प्रस्तावे सम्भावितं तद्विषयमेव सर्वत्वं द्रष्टव्यम् । पूर्णाहुतेरभावे सति आधानरूपं कर्म अङ्गविकलं भवति ।

पर्वपक्षी ने सभी कर्मों की निरर्थकता प्रदर्शित करने के लिए 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' यह जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसका उत्तर इस सूत्र में दिया जा रहा है—

'(अर्थवाद वाक्य में प्रयुक्त) 'सर्व' शब्द अधिकारिक अर्थात् प्रस्तुत को पूर्णता का बोधक है' ।

'पूर्णाहुत्या' यह अर्थवाद 'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' (पूर्णाहुति पूर्वक हवन करे) इस विधिवाक्य का पूरक है । यह आहुति समस्त कामनाओं की प्राप्ति का हेतु होने के कारण प्रशस्त है, इस प्रकार पूर्णाहुति की प्रशंसा उक्त अर्थवाद वाक्य के द्वारा की गई है । जिस प्रकार 'सभी ब्राह्मणों को भोजन कराया जाये, इस वाक्य में सर्व (सभी) शब्द अपने घर में आए हुए समस्त ब्राह्मणों का बोधक है (न कि संसार के समस्त ब्राह्मणों का) इसी प्रकार प्रस्तुत में पूर्णाहुति के द्वारा कर्म की माङ्गल्यता के सम्पन्न होने की अवस्था में उस अधिकार अर्थात् सन्दर्भ में जिस फल की सम्भावना की जा सकती है केवल उसी (उतने का ही) बोधक सर्व शब्द को समझना चाहिए । पूर्णाहुति के अभाव में आधान रूप कर्म अङ्गविकल हो जाता है और अङ्गों की यह विकलता (अपूर्णता) पूर्णाहुति के द्वारा समाहित कर दी जाती है । विकलता का यह समाधान (पूर्णाहुति के द्वारा प्राप्य अनेक कामों में) एक काम है । उस अङ्गवैकल्य के समाहित हो जाने अर्थात् कर्म के

तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयते इत्येकः कामः । तस्मिन् समाहिते सति आहवन्त्याद्यग्नयोर्गनिहोत्रादिकर्मसु योग्या भवन्ति इत्ययमन्यः कामः । तैश्च कर्मभिस्तत्तत्फलं प्राप्यते इति कामान्तरम् । ईदृशी सर्वकामावाप्तिराहुत्यन्तरेष्वपि विद्यते इति चेत् विद्यतां नाम । किं नश्छिन्नम् । न खल्वेतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचिद् हानिः अस्ति ।

ननु पूर्णाहुतेरङ्गभावत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं भवत्, 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (जै० ४।३।१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात् । पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्मविधायकत्वात् सर्वलोकाभिजयस्य मुख्यफलत्वाद् अन्यानर्थक्यं दुर्वारम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

सर्वाङ्गसम्पन्न हो जाने पर आहुनीय आदि अग्नि का अग्निहोत्र आदि कर्मों के योग्य हो जाती हैं । यह उसका दूसरा काम है । और उम कर्मों से तत्तत् फलों की प्राप्ति होती है, यह अन्य काम है । कोई कह सकता है कि इस प्रकार सभी कामनाओं की प्राप्ति तो अन्य आहुतियों से भी हो सकती है, तो उसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा होता है तो होने दीजिए । वैसा होने से हमारा क्या घट गया ? इससे (अर्थवाद वाक्य के द्वारा की गई) पूर्णाहुति की स्तुति कोई हानि नहीं होती ।

यह कहा जा सकता है कि 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' की पूर्णाहुति तो आधान रूप कर्म का अङ्ग है इसलिए उसकी 'सर्वान् कामान् अवाप्नोति' यह जो फलश्रुति है, वह अर्थवाद होने के कारण 'पूर्णाहुति जुहुयात्' इस विधिवाक्य का स्तावक हो सकता है, क्योंकि द्रव्यसंस्कार कर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (द्रव्य, संस्कार और कर्म के परार्थ (यज्ञ के निमित्त) होने के कारण उनके प्रतिपादक वाक्यों में जो फलकथन होता है, वह अर्थवाद मात्र है) के अनुसार कर्म की फलश्रुति अर्थवाद ही होती है । किन्तु 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति' यह वाक्य तो कर्म का विधायक है और समस्त लोकों की विजय उसका मुख्य फल है, ऐसी स्थिति में (केवल पशुबन्ध याग से समस्त विश्व की विजयरूप फल की प्रगति से) पशुबन्ध याग की अपेक्षा अन्य अनेक कर्मों की निरर्थकता का तो निवारण किया ही नहीं जा सकेगा । इस आशङ्का का उत्तर आचार्य इस सूत्र में प्रस्तुत करता है —

‘फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फल-
विशेषः स्यात्’ । (जै० १।२।१७) इति ।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अन्यतमलोकाभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा
निष्पाद्यते । तेषां च पृथिव्यादीनां फलानां कर्मन्तरेण परिमाणाधिक्यं
सारत्वं वा सम्पद्यते । ततः फलविशेषः स्यादिति नास्ति अनर्थक्यम् ।
लोकवत् इत्युक्तायै दृष्टान्तः । यथा लोके निष्केण खारीपरेभितान्
ब्रीहन् विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रये सति परिमाणाधिक्यं भवति, यथा
वा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते निष्कद्वयेन तु सारभूतं दुकूलम् । तथा
भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्मन्तरेण द्रष्टव्यम् । ब्रह्महत्याया अपि

‘फल के कर्म को निष्पत्ति से होने के कारण, लोक के समान उन कर्मों के
परिणाम और दृढ़ता उसे उनके फल में विशेषता का आगमन हो जाता है’ ।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में से किसी एक लोक पर विजय प्राप्त
करना रूप फल पशुबन्ध कर्म के द्वारा निष्पन्न किया जाता है । अन्य कर्म के
द्वारा उन पृथिवी आदि फलों के परिमाण का आधिक्य तथा सारत्व (दृढ़ता)
सम्पन्न होती है । इस प्रकार उसके फल में विशेषता आ जाती है, इसलिए
उनकी निरर्थकता नहीं है । इस सन्दर्भ में लोक के समान दृष्टान्त दिया जा सकता
है । जिस प्रकार लोक में एक निष्क (प्राचीन काल में प्रचलित विशेष प्रकार
का सिक्का) के द्वारा एक खारी (तौल की एक प्राचीन माप) धान को खरीदने
के पश्चात् पुनः दूसरे निष्क से और धान खरीदने पर धान का परिमाण अधिक
हो जाता है । अथवा जैसे एक निष्क के द्वारा सामान्य वस्त्र मिलता है, किन्तु दो
निष्क से सारभूत (मजबूत) दुकूल (विशेष प्रकार का रेशमी वस्त्र) की प्राप्ति हो
जाती है उसी प्रकार अन्य कर्म के द्वारा भोग के आधिक्य अथवा सारभूत भोग
प्राप्ति होती है, ऐसा समझना चाहिए । थोड़ी मानसिक ब्रह्महत्या से उद्धार
अश्वमेध यज्ञ को जानने मात्र से हो सकता है, किन्तु महान कायिक (शरीर से

मानस्याः स्वल्पाया जेदनमात्रेण तरणम् । कायिक्यास्तु महत्या अश्व-
मेधेन, इति नास्ति अन्यानर्थक्यम् ।

योऽपि 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतस्तथा 'बबरः
प्रावाहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्र उभयत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अन्त्ययोर्यथोक्तम् (जै० १।२।१८) इति ।

अन्त्ययोरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम् । अन्तरिक्षादौ चयन-
निन्दारूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (तै० सं० ५।२।७।१)
इत्यस्य विधेः शेषः । अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेव
उत्तरम् । अन्तरिक्षे चयनप्रसक्त्यभावात् तन्निन्दा नित्यानुवादोऽस्तु ।

की जाने वाली) ब्रह्महत्या से मुक्ति तो अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के द्वारा ही
सम्भव है, इसलिए पशुबन्ध की अपेक्षा अन्य कर्मों की निरर्थकता नहीं है जैसी
कि पूर्वपक्षी ने प्रतिपादित की थी ।

इसी प्रकार पूर्वपक्षी ने अर्थवादों में अप्राप्त विरोध को दिखाने के लिए
जो 'नान्तरिक्षे न दिवि' और अनित्य संयोग रूप दोष को दिखाने के लिए जो
'बबरः प्रावाहणिः' उदाहरणों को प्रस्तुत किया है उन दोनों का उत्तर आचार्य
इस सूत्र में देता है—

'अन्तिम दोनों उदाहरणों का उत्तर पहले कहे गए के अनुसार समझ लेना
चाहिए' ।

अन्तिम दोनों उदाहरणों का उत्तर पहले कहा गया ही समझना चाहिए ।
अन्तरिक्ष आदि में अग्नि के चयन का निन्दा रूप जो अर्थवाद है वह 'हिरण्यं
निधाय चेतव्यम्' (सोने को रखकर (अग्नि का) चयन करना चाहिए । इस
विधिवाक्य का शेष या पूरक है । इसीलिए इसका उत्तर 'स्तुत्यर्थेन विधीनां
स्युः' अर्थवादों को विधिवाक्यों की स्तुति के निमित्त समझना चाहिए । इस सूत्र
के द्वारा दे दिया गया है । अन्तरिक्ष में अग्निचयन की प्राप्ति के अभाव के
कारण प्रस्तुत अर्थवाद वाक्य के द्वारा अग्निचयन की जो निन्दा की गई है वह
निन्दा न होकर नित्य अर्थात् स्वभाव सिद्ध बात का अनुवाद (अपने शब्दों में

तेनापि विधिः स्तोतुं शक्यते, नित्यसिद्धार्थानुवादिना वायो, क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः स्तुतत्वात् । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यत्रापि बबरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किंतु बबरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहसशीलो वायुर्व्यवहारद्वशायां नित्य एवार्थो विवक्षितः इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे प्रोक्तम् ।

तस्मात् सम्भवितदोषाणां परिहृतत्वाद् अर्थवादानाम् अस्ति प्रामाण्यम् । तत्र संग्रहश्लोकाः—

कथन) मात्र है—भाव यह है कि अन्तरिक्ष में अग्निचयन नहीं होता, इसी स्वाभाविक बात को अर्थवाद ने अपने शब्दों में प्रस्तुत भर कर दिया है । इस स्वाभावसिद्ध तथ्य को अनूदित करने वाले अर्थवाद वाक्य के द्वारा भी विधि की स्तुति हो सकती है क्योंकि वायु अत्यन्त तीव्रगामी है इस स्वभाव सिद्ध बात का अनुवाद करने वाले 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस पशु आलम्भन का विधान करनेवाले विधिवाक्य की प्रशंसा की गई है । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इस उदाहरण में भी बबर नामक कोई अनित्य मनुष्य विवक्षित नहीं है, अपितु बबरध्वनि युक्त ('बबर-बबर' शब्द करती हुई) अत्यन्त तीव्रता के साथ बहने के स्वभाववाली वायु ही व्यवहारदशा के नित्य अर्थ के रूप में यहाँ विवक्षित है । इस उत्तर को मीमांसा सूत्रों के प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में दिया जा चुका है ।

इस प्रकार सम्भावित दोषों का निराकरण हो जाने के कारण अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य है, अर्थात् वे निरर्थक नहीं हैं । इस सन्दर्भ में ये संग्रह श्लोक हैं—

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता ।
 न विधेयेऽस्ति धर्मं किं किं वासी तत्र विद्यते ॥
 विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात् ।
 नास्त्येकवाक्यता धर्मं प्रामाण्यं सम्भवेत् कुतः ॥
 विध्यर्थवादी साकांक्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः ।
 तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता ॥

(जै० न्या० मा० १।२।१)

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानाम् अप्रा-
 माण्ये कारणाभावात् बोधकानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकारान्च
 कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

(प्रश्न) विधान किए जाने वाले धर्म में 'वायु वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि
 अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य नहीं है अथवा उसमें उसका वह प्रामाण्य विद्यमान
 है ? (पूर्वपक्ष) विधिवाक्यों और अर्थवाद वाक्यों के आपस में अपेक्षा न रखने
 के कारण (परस्पर निरपेक्ष होने के कारण) उनकी एकवाक्यता नहीं है । इस
 एकवाक्यता के अभाव में अर्थवाद-वाक्यों का निधेय धर्म में प्रामाण्य कैसे सम्भव
 है ? (सिद्धान्त पक्ष) विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य क्रमशः प्रशस्ति और
 पुरुषार्थ के कारण परस्पर साकांक्ष होते हैं । विधिवाक्य की आकांक्षा यह रहती
 है कि उसकी प्रशस्ति की जाय और अर्थवाद वाक्य की यह कि वह पुरुषार्थ की
 पूर्ति करे । अर्थवादवाक्य विधिवाक्य की प्रशंसा कर उसकी प्रशस्ति की
 आकांक्षा को पूर्ण कर देता है, उधर विधिवाक्य भी अर्थवाद वाक्य को पुरुषार्थ
 में विनियुक्त कर उसकी आकांक्षा की पूर्ति कर देता है । इस प्रकार परस्पर
 साकांक्ष होने के कारण उनमें (विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य में) एकवाक्यता
 हो जाती है और इस एकवाक्यता के कारण अर्थवादवाक्यों का (विधिवाक्यों
 के ही समान) धर्म में प्रामाण्य है ।

इस प्रकार (मन्त्र ब्राह्मणात्मक) वेद में विद्यमान मन्त्र विधि और अर्थ-
 वाद भागों की अप्रामाणिकता में किसी कारण के न होने के कारण तथा कर्म
 का बोधक होने के कारण उनके प्रामाण्य के स्वतस्त्व के अङ्गीकार किए जाने
 के कारण समस्त वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है ।

पूर्वपक्ष (वेद पौरुषेय है) ।

ननु एदमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवत् अप्रामाण्यं स्यात् । पौरुषेयत्वंच प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास—
‘वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः’ (जै० १।१।२७) ।

एके वादिनो वेदान् प्रति सन्निकर्षं मन्यन्ते । कालिदासादिभिर्निमित्तानां रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः । ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चोयन्ते । यथा रघुवंशादय इदानीं तनास्तथा वंदा अपि । न तु वेदा अनादयः । अत एव वेदकर्तृत्वेन पुरुषा आख्यायन्ते । वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादिकर्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते तथा काठकं कौथुमं तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखातृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वात् वेदाः पौरुषेयाः ।

यहाँ पूर्वपक्षी यह प्रश्न कर सकता है कि मन्त्र, विधि और अर्थवाद भागों के प्रामाण्य को मान लेने पर भी वेद के पौरुषेय (पुरुष या ईश्वर के द्वारा निमित्त होने के कारण विप्रलम्भक या वञ्चक व्यक्तियों के वाक्य के समान वेद का भी प्रामाण्य नहीं हो सकेगा, अर्थात् जिस प्रकार पुरुषनिर्मित होने के कारण वञ्चक व्यक्तियों के वाक्य को कोई प्रमाणिकता नहीं होती, उसी प्रकार वेद-वाक्य की भी कोई प्रमाणिकता नहीं है, क्योंकि वह भी पुरुष निर्मित है । आचार्य जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों के प्रथम पाद वेद के पौरुषेयत्व को इस प्रकार सूचित किया है—

‘वैदिक सूत्रों में मन्त्रों के रचयिता के रूप में मधुच्छन्दस् आदि पुरुषों की आख्या (नाम) के उल्लेख के कारण कुछ लोग वेदों के प्रति सन्निकर्ष (सामीप्य, आधुनिकता) मानते हैं’ ।

कुछ वादी विद्वान् वेदों के प्रति सन्निकर्ष मानते हैं । सूत्र में ‘च’ का प्रयोग कालिदास आदि के द्वारा निर्मित रघुवंश आदि ग्रन्थों के समुच्चय के लिए हुआ है, तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रघुवंश आदि ग्रन्थ आधुनिक हैं उसी प्रकार वेद भी आधुनिक हैं, न कि वेद अनादि हैं । इसीलिए वेदों के रचयिता के रूप में पुरुषों के नामों का उल्लेख किया गया है । जिस प्रकार ‘वैयासिक भारतम्’ और ‘वाल्मीकीयं रामायणम्’ आदि प्रयोगों में भारत आदि के कर्त्ता के रूप में व्यास आदि का उल्लेख किया गया है उसी प्रकार ‘काठकम् कौथुमम्’ और ‘तैत्तिरीयम्’ इत्यादि प्रयोगों में तत्तत् वेद शाखाओं के कर्त्ता के रूप में कठ आदि के उल्लेख के कारण वेद पौरुषेय (पुरुष-निर्मित) हैं, यह सिद्ध है ।

ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्तकत्वेन
काठकादिसमाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति—

‘अनित्यदर्शनाच्च’ (जै० १।१।२८) इति ।

अनित्या जननमरणवन्तो बबरादयो वेदे श्रूयन्ते—‘बबरः प्रावाहणिर-
रकामयत’ (तै० सं० ७।१।१०।२) ‘कुसुरुबिन्द औदालकिरकामयत’
(तै० सं० ७।२।२।१) इति । तथा सति बबरादिभ्यः पूर्वमभावाद अनित्या
वेदाः । विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवद्
इत्याद्यनुमानसमुच्चर्याथिश्चकारः ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

‘उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्’ (जै० १।१।२९) इति ।

यह आशङ्का की जा सकती है कि वेद तो वास्तव में नित्य ही हैं, किन्तु
उपाध्याय (आचार्य) के समान भिन्न-भिन्न वैदिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक होने के
कारण कठ आदि के नाम उसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं के साथ अन्वित हो गए
हैं, अर्थात् कठ आदि नाम सम्प्रदाय या शाखा के प्रवर्तकों के हैं न कि मन्त्र-
कर्त्ताओं के । इस आशङ्का के उत्तर के रूप में दूसरी युक्ति इस सूत्र में प्रस्तुत
की जा रही है—

‘अनित्य पदार्थों का दर्शन होने से (वेदों की पौरुषेयता सिद्ध होती है)’ ।
अनित्य अर्थात् जन्म और मृत्युवाले बबर आदि वेद में सुनाई पड़ते हैं, ‘बबरः
प्रावाहणिरकामयत कुसुरुबिन्द औदालकिरकामयत’ । ऐसा होने पर बबर आदि से
पूर्व न होने के कारण वेद अनित्य हैं । सूत्र में ‘च’ का उल्लेख निम्नलिखित
अनुमान आदि के समुच्चय (ग्रहण) के लिए है, ‘विमत (जिसके सम्बन्ध में विवाद
है) वेदवाक्य पुरुष निर्मित हैं, वाक्य होने के कारण कालिदास आदि के द्वारा
निर्मित वाक्यों के समान’ । भाव यह है कि सूत्र में ‘अनित्यदर्शन’ को तो पौरुषे-
यत्व के हेतु के रूप उपन्यस्त किया गया है, चकार से अनुमान आदि का भी
ग्रहण हो जाता है ।

अब सिद्धान्त को सूचित किया जा रहा है ।

सिद्धान्तपक्ष (वेद अपौरुषेय है) ।

तुशब्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति । शब्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषे-
भ्यः पूर्वत्वम् अनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम् । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य
अर्थेन सम्बन्धः' (जै० १।१।५) इत्यस्मिन् सूत्रे औत्पत्तिकशब्देन सर्वेषां
शब्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसम्बन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञाय उत्त-
राभ्यां शब्दाधिकरणवाक्याधिकणाभ्यामुपपादितत्वात् । का तर्हि काठ-
काद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य संप्रदायप्रवर्तनात् सेयमुपपद्यते इत्युत्तरं
सूत्रयति—

‘आख्या प्रवचनात्’ (जै० १।१।३०) इति ।

अस्तु इयमाख्याया गतिः । ततः परं बबराद्यनित्यदर्शनं यदूक्तं तस्य
किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

वेद रूप शब्द की पूर्ववर्त्तिता अर्थात् अनादिता पहले ही कही जा चुकी है ।
सूत्र में प्रयुक्त ‘तु’ शब्द वेदों की अनित्यता का निवारण करता है । वेदरूप
शब्द की कठ आदि पुरुषों से पूर्ववर्त्तिता अर्थात् अनादिता पूर्ववर्ती सूत्रों के द्वारा
ही बतला दी गई है । ‘औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः’ (शब्द का अपने
अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, इस सूत्र में उपात्त औत्पत्तिक शब्द के द्वारा
शब्दों अर्थात् वैदिक वाक्यों, उनके अर्थों और उन दोनों के सम्बन्धों के नित्यत्व
को प्रतिज्ञा करने के पश्चात् आचार्य जैमिनी ने बाद के शब्दाधिकरण और वाक्य-
धिकरण इन दो अधिकरणों के द्वारा इसी शाब्दिक नित्यता की सिद्धि की है ।
फिर काठक आदि नामों की क्या गति होगी अर्थात् वैदिक शब्दों को नित्य मान
लेने की स्थिति में ‘काठक’ आदि जिन पदों में अनित्य पदार्थों की विद्यमानता के
कारण उनके अनित्य होने की समस्या उत्पन्न हो गई है, उनका समाधान क्या
होगा ? इस आशङ्का का उत्तर ‘संप्रदाय के प्रवर्तन के कारण यह आख्या
उत्पन्न हुई है, इस रूप में निम्न सूत्र प्रस्तुत करता है—

‘कठ आदि लोगों के द्वारा वेद की उन-उन शाखाओं का प्रवचन किये जाने
के कारण उन उन शाखाओं की आख्या (नाम) काठक आदि हुई है ।

‘काठक’ आदि आख्याओं के इस समाधान को यदि मान भी लिया जाय तो
भी ‘बबर’ आदि अनित्य पदार्थों का जो दोष वैदिक मन्त्रों के विषय में कहा
गया है, उस सम्बन्ध में आपका समाधान क्या होगा ? इस आशङ्का का उत्तर
आचार्य ने इस सूत्र में दिया है —

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१) इति ।

यत् परं बबरादिकं तच्छब्दसामान्यमेव । न तु मनुष्यो बबरनाम-
कोऽत्र विवक्षितः । बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं
शक्यत्वात् ।

ननु वेदे क्वचिदेवं श्रूयते 'वनस्पतयः सत्रमासत', 'सर्पाः सत्रमासत'
इति । तत्र वनस्पतीनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वात्
न तदनुष्ठानं संभवति । अतो 'जग्दगवो गायति मद्रकाणि' इत्याद्युन्मत्त-
बालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—
'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्' (जै० १।१।३२) इति ।

'परवर्ती जो बबर आदि हैं उन्हें शब्दसामान्यमात्र समझना चाहिए' ।

परवर्ती जो बबर आदि हैं वे शब्द सामान्य मात्र हैं । यहाँ बबर नाम का
कोई मनुष्य विवक्षित नहीं है । वास्तव में यहाँ बबरध्वनि से युक्त प्रवहणशील
वायु ही विवक्षित है, ऐसा कहा जा सकता है ।

प्रश्न हो सकता है कि वेद में कहीं-कहीं सुना जाता है—'वनस्पतियों ने
यज्ञ किया' 'सर्पों ने यज्ञ किया' । वनस्पतियाँ तो अचेतन हैं, सर्प यद्यपि चेतन हैं
'किसी विद्यारहित हैं' । ऐसी अवस्था में वनस्पतियों और सर्पों के द्वारा यज्ञ का
अनुष्ठान सम्भव नहीं है । इस लिए 'जग्दगवो गायति मद्रकाणि' (बूढ़ा बैल मद्रक
गान को गाता है) इत्यादि उन्मत्तों और बालकों के वाक्यों के समान होने के
कारण वेद की रचना भी जिस किसी व्यक्ति ने कर दी है । पूर्वपक्षी की इस
आशङ्क का उत्तर आचार्य ने इस सूत्र में दिया है—

'वाक्यों के कृत अर्थात् पुरुष निर्मित होने पर उनके विनियोग के न हो पाने
तथा कर्म के समान होने के कारण (वाक्य नहीं हैं) ।

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वाक्यों का यदि किसी पुरुष के
द्वारा रचा हुआ मान लिया जाता तो उस समय किये गये उस वाक्य में प्रयुक्त

१. पूरा श्लोक और उसका अर्थ इस प्रकार है—

जग्दगवः कम्बलपादुकाम्यां द्वारिस्थितो गायति मद्रकाणि ।

तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः ॥

अर्थात् कम्बल ओढ़े और पादुकों को पहने हुए बूढ़ा बैल दरवाजे पर खड़ा
होकर मद्रक गाने को गा रहा है । पुत्र की कामना वाली ब्राह्मणी उससे पूछती
है—हे राजन् ! नमक की खान से लहसुन की क्या आवश्यकता है ?

यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियेत तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्; साध्य-साधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात् । श्रूयते तु विनियोगः 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति । न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशं, लौकिकविधि-

ज्योतिष्टोम का स्वर्गादि के साधन के रूप में विनियोग न होता, क्योंकि किसी भी पुरुष के द्वारा ज्योतिष्टोम और स्वर्ग भी क्रमशः साधनता और साध्यता को जाना नहीं जा सकता । किन्तु स्वर्गादि के साधन के रूप में ज्योतिष्टोमादि का विनियोग 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' जैसे वैदिक वाक्यों के रूप में सुना जाता है । इस वाक्य को उन्मत्त के वाक्य के समान निरर्थक नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें लौकिक विधिवाक्य के ही समान भाव्य, करण और इति-कर्तव्यता नामक तीन अंशों से युक्त भावना की प्रतीति होती है^१ । लोक में 'ब्राह्मणान्

- मीमांसा दर्शन के अनुसार भावी वस्तु के जनक व्यापार-विशेष को भावना कहा जाता है—'भवितुर्भवनानुकूलो व्यापारविशेषो भावना' । इसके दो भेद होते हैं—(१) शाब्दी भावना और (२) आर्थी भावना । पुरुष की प्रवृत्ति के जनक प्रयोजक के व्यापार विशेष को शाब्दी भावना कहते हैं । इसे तीन अंशों की अपेक्षा होती है—साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता । साध्य को ही भाव्य भी कहते हैं । इसका स्वरूप है—'किं भावयेत्' किसे भवित किया जाए । दूसरे शब्दों में जिसे भवित किया जाय वह साध्य या भाव्य है । प्रस्तुत सन्दर्भ में पुरुष प्रवृत्ति रूप आर्थी भावना ही साध्य है । साधन को ही कारण भी कहते हैं । इसका स्वरूप है 'केन भावयेत्' (किसके भवित किए जाय) अर्थात् जिसके द्वारा भवित किया जाय वह साधन या करण है । पुरुष की प्रवृत्तिरूपी साध्य की ओर प्रवृत्ति विधिज्ञान के अभाव में नहीं होती है इसलिए विधिज्ञान ही इसका साधन है । अर्थवाद के द्वारा बोधित कर्म की प्रशंसा को 'इतिकर्तव्यता' कहते हैं । इसका स्वरूप है—'कथं भावयेत्' (कैसे भवित किया जाय) अर्थात् भवित करने के प्रकार को 'इतिकर्तव्यता' कहते हैं । प्रकृत में कर्म की प्रशंसा को 'इतिकर्तव्यता' है, क्योंकि उसें सुनकर ही पुरुष कर्म करने के लिए उत्साहित होता है । फल की इच्छा से उत्पन्न क्रिया विषयक प्रवृत्ति को आर्थीभावना कहते हैं । यह भावना भी शाब्दी भावना के ही समान साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता की अपेक्षा करती है । भावी सुख इसका साध्य, उपासनादि कर्म इसके साधन और यम नियमादि इसकी इतिकर्तव्यता है । मीमांसा के अनुसार प्रत्येक वाक्य तीन अंशों वाली भावना से युक्त होता है ।

वाक्यवद् भाव्यकरणेतिकर्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवग-
मात् । लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ, किं, केन, कथमित्याकांक्षायां,
तृप्तिमुद्दिश्य, ओदनेन द्रव्येण, शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेण इति
यथा उच्यते, तथा ज्योतिष्टोमविधावपि, स्वर्गमुद्दिश्य, सोमेन द्रव्येण,
दीक्षणीयाद्यज्ञोपकारप्रकारेण इत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत् ।
वनस्पत्यादिसत्रवाक्यमपि न तत्सदृशं, तस्य सत्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना
सम्भवात् । 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः । ज्यो-
तिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वादनुष्ठाने तात्पर्यम् । वनस्पत्यादिसत्र-

भोजयेत्' (ब्राह्मणों को भोजन कराये) इस विधि वाक्य में 'किं भोजयेत्'
(क्यों भोजन कराये) 'केन भोजयेत्' (किसके द्वारा भोजन कराया
जाये) और 'कथं भोजयेत्' (किस प्रकार भोजन कराया जाय) इत्यादि की
आकांक्षा होने पर 'तृप्ति के उद्देश्य से भोजन कराये' 'ओदन (भात) नामक द्रव्य
से भोजन कराये' और साग दाल आदि को परोसने के प्रकार से भोजन कराये ।
इस प्रकार जैसे कहा जाता है, उसी प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकाम यजेत्' इस
विधिवाक्य में भी 'स्वर्ग के उद्देश्य ज्योतिष्टोम करे' 'सोम द्रव्य से ज्योतिष्टोम
करे' और 'दीक्षणीय आदि अङ्गों के उपकार के प्रकार से यज्ञ करे' इस प्रकार
(क्रमशः साध्य साधन और इतिकर्तव्यता की अपेक्षा होने पर) कहा जाता है ।
ऐसी अवस्था में ज्योतिष्टोमादि वाक्यों को उन्मत्तवाक्य सदृश निरर्थक कैसे कहा
जा सकता है ? ठीक इसी प्रकार 'वनस्पतयः सत्रमासत' और 'सर्पाः सत्रमासत'
आदि वाक्य भी उन्मत्त वाक्य के समान नहीं हैं, क्योंकि उनमें जिस सत्र कर्म का
विधान किया गया है, वह ज्योतिष्टोम आदि के समान है । क्योंकि न्यायविदों
(मीमांसाशास्त्र के वेत्ताओं) का कथन है कि शब्द का तात्पर्य जिस अर्थ में होता
है, वही शब्द का अर्थ होता है । ज्योतिष्टोम आदि वाक्य विधायक वाक्य हैं, इस-
लिए उनका तात्पर्य कर्म के अनुष्ठान में है और वही उसका अर्थ है । वनस्पत्या-
दिसत्र वाक्य अर्थवादवाक्य हैं, इसलिए उसका तात्पर्य प्रशंता में है और वाक्य

वाक्यस्य अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम् । सा चाविद्यमानेनापि कर्तुं शक्यते । अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्रमनुष्ठितवन्तः, किं पुनश्चेतना विद्वांसो ब्राह्मणा इति सत्रस्तुति । चकारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यत्वहेतोः कर्त्रनुपलम्भेन परार्हति समुच्चिनोति । तस्मात् नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम् ।

अत्रैतौ संग्रहश्लोको—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता ।

काठकादिसमाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत् ॥

समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम् ।

तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता ॥

(जै० न्या० मा० १।१।८)

का अर्थ है । यह प्रशंसा अविद्यमान वस्तु के द्वारा भी की जा सकती है । अचेतन वनस्पतियाँ और ज्ञानरहित सर्प भी जब सत्र का अनुष्ठान कर सकते हैं तो चेतन और ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणों का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार (इन वाक्यों में) वनस्पतियों और सर्पों के द्वारा सत्र के अनुष्ठान रूप सर्वथा अविद्यमान वस्तु के द्वारा सत्र की प्रशंसा हो जाती है । सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द पूर्वपक्षी के द्वारा वेद के पौरुषेयत्व की पुष्टि में दिये गये वाक्य रूप हेतु के खण्डन का वेद के रचयिता की अनुपलब्धि के आधार पर, समुच्चय करता है अर्थात् पूर्वपक्षी ने वेद के पौरुषेयत्व को सिद्ध करने के लिए वाक्यत्व का जो हेतु दिया था । कालिदासदि के वाक्यों के समान वाक्य होने के कारण वेद (मन्त्रवाक्य) पौरुषेय है, उसका खण्डन इस सूत्रमें प्रयुक्त 'च' शब्द के द्वारा हो जाता है, क्योंकि जहाँ रघुवंशादि के वाक्यों के रचयिता के रूप में कालिदासादि उपलब्ध होते हैं, वहाँ वैदिकवाक्यों के रचयिता के रूप में कोई उपलब्ध नहीं होता । इस प्रकार यह सिद्ध है कि वेद पौरुषेय नहीं है । इस सम्बन्ध में दो संग्रह श्लोक हैं—

(प्रश्न) 'वेदवाक्य पौरुषेय है अथवा उसमें पौरुषेयता नहीं है? (पूर्वपक्ष)

काठक आदि संहिताओं में प्रयुक्त 'कठ' आदि नामों के उल्लेख और वाक्य होने के कारण अन्य (लौकिक) वाक्यों के समान वेद पौरुषेय है । (सिद्धान्तपक्ष) वेद की संहिताओं के साथ 'कठ' आदि नामों का उल्लेख उनके द्वारा उन-उन शाखाओं का प्रवचन किए जाने के कारण और वाक्यत्व रूप हेतु वेद के कर्त्ता के उपलब्ध न होने के कारण खण्डित हो जाता है । इसलिए वेद अपौरुषेय है ।

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्यत्वं सूत्रितम् 'शास्त्रयोनि-
त्वाद्' (वेदान्तसूत्र १।१।३) इति । ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वात् ब्रह्म
सर्वज्ञमिति सूत्रार्थः । बाढम् । नैतावता पौरुषेयत्वं भवति, मनुष्य-
निर्मितत्वाभावात् । ईदृशमपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाशा-
दिवत् नित्यत्वं बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्—'अत एव च नि-
त्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति । श्रुतिस्मृती चात्र भवतः । वाचा
विरूप नित्यया' (ऋ० ८।७।१६) इति श्रुतिः । 'अनादिनिधाना नित्या
वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (म० म० शा० २३२।२४) इति स्मृतिः ।
तस्मात् कर्तृदोषशङ्काया अनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं
प्रामाण्यं सिद्धम् ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् बादरायण ने 'शास्त्रयोनित्वात्'
इस सूत्र में वेद को ब्रह्म का कार्य (रचना) बतलाया है । उक्त सूत्र का अर्थ
है कि ऋग्वेद आदि शास्त्रों का कारण होने के कारण ब्रह्म सर्वज्ञ है ('ब्रह्म'
पुरुष है, उसके द्वारा रचित होने से वेद पौरुषेय ही है, न कि अपौरुषेय, जैसा
कि आप का कथन है) । सिद्धान्तपक्षी इसका उत्तर देता हुआ कहता है कि वेद
ब्रह्म का कार्य है, मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ, किन्तु इतने मात्र से वेद
का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि वेद की रचना मनुष्य ने नहीं की है—
अर्थात् प्रकृत सन्दर्भ में 'पौरुषेय' शब्द का अर्थ है : मनुष्य रूप पुरुष के द्वारा
निर्मित है न कि ब्रह्मरूप पुरुष के द्वारा निर्मित । मनुष्य के द्वारा वेद के रचित
न होने के कारण वह पौरुषेय नहीं है । वेद की इस प्रकार की अपौरुषेयता के
अभिप्राय से ही स्वयं बादरायण ने ही ब्रह्मसूत्रों के देवताधिकरण में आकाशादि
के समान वेद के नित्यत्व को व्यवहारदशा में माना है । वेद की नित्यता को
सिद्ध करने वाला उनका सूत्र है—'अतएव च नित्यत्वम्' (क्योंकि इन्द्र और
वशिष्ठ आदि शब्द तत्तत् आकार के वाचक हैं इसलिए वेद का नित्यत्व है) ।
इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्रुति और स्मृति दृष्टिगत होती है—(श्रुति)
'वाचा विरूप नित्यया' (हे विरूप : नित्य वाणी के द्वारा) । (स्मृति)
'अनादिनिधाना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (स्वयम्भू 'ब्रह्मा' ने अनादि, अनन्त
और नित्य वाणी की सृष्टि की) । इस प्रकार वेद के सम्बन्ध में कर्त्ता के दोष
की शङ्का का उदय ही नहीं होता, इसलिए मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों रूपों
वाले वेद का प्रामाण्य बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाता है ।

नतु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तं, तयोः स्वरूपस्य निर्णेतुम्-
शक्तत्वात् । नैवम् । द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाष्टमयोरधिकर-
णयोर्निर्णीतत्वात् । सप्तमाधिकरणमारचयति—

अहे बुद्धिम मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।

नास्त्यस्ति वाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥

याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।

तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥

(जै० न्या० मा० २।१।७)

आधाने इदमास्नायते—‘अहे बुद्धिय मन्त्रं मे गोपाय’ (तै० ब्रा०
१।२।१२६) इति । तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वा-

यह शंका प्रस्तुत की जा सकती है कि मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप का
अलग-अलग निर्णय नहीं किया जा सकता । इसलिए वेद को मन्त्रब्राह्मणात्मक
कहना उचित नहीं प्रतीत होता । सिद्धान्तपक्षी इसका उत्तर देता हुआ कहता
है कि बात ऐसी नहीं है । मोषांसासूत्रों के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के
सप्तम और अष्टम अधिकरणों में मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप का निर्णय किया
है । सप्तम अधिकरण में विवेचित विषय का संग्रह (विद्याख्य या सायण ने)
इस प्रकार किया है—

(प्रश्न) ‘अहे बुद्धिय मन्त्रं मे गोपाय’ तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस वाक्य में
जिस ‘मन्त्र’ शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका लक्षण नहीं है, अथवा है ?

(पूर्वपक्ष) मन्त्र के लिए जानेवाले लक्षण में अव्याप्ति आदि दोषों का
निवारण न हो सकने के कारण उसका कोई लक्षण नहीं है (सिद्धान्तपक्ष)
याज्ञिकों के द्वारा जिन वैदिकवाक्यों का मन्त्रों के रूप में आख्यान (कथन)
होता है, अर्थात् जिसे मन्त्र कहते हैं वही मन्त्र का दोषरहित लक्षण है । ये
याज्ञिक लोग अनुष्ठान के स्मारक आदि वैदिक वाक्यों के लिए मन्त्र शब्द का
प्रयोग करते हैं इसलिए मन्त्र स्मारक आदि वाक्य ही मन्त्र हैं ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के आधान प्रकरण में ‘अहे बुद्धिय मन्त्रं मे गोपाय’ यह
वाक्य कहा गया है । इसमें जिस मन्त्रशब्द का प्रयोग किया गया है, उसका
कोई लक्षण नहीं है, क्योंकि उसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति नामक दोषों को

रयितुमशक्यत्वात् । विहितार्थमभिधायको मन्त्रः इत्युक्ते 'वसन्ताय कपि-
ज्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वाद-
व्याप्तिः । मननहेतुमन्त्रः ब्राह्मणोऽतिव्याप्तिः । एवम् असिपदान्तो मन्त्रः,
उत्तमपुरुषान्तो मन्त्रः, इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरिति चेत्,
सैवम् । याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात् । तच्च समाख्यानमनु-
ष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति । 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८।१)

रोका नहीं जा सकता—भाव यह है कि किसी भी लक्षण को 'लक्षण' तब तक
नहीं कहा जा सकता जब तक वह अव्याप्ति आदि दोषों से सर्वथा रहित न हो,
प्रकृत में 'मन्त्र' का कोई भी ऐसा लक्षण नहीं, जिसे इन दोषों से सर्वथा मुक्त कहा
जा सके, इसीलिए यह कहा गया है कि मन्त्र का कोई लक्षण नहीं है । यदि कहें
कि विहित अर्थ का अभिधान करनेवाले को मन्त्र कहते हैं तो 'वसन्ताय कपि-
ज्जलानालभते' (वसन्त के लिए कपिज्जलों का आलम्भन करे) इस मन्त्र पर
उसकी व्याप्ति न होने से वह अव्याप्ति दोष से ग्रस्त होगा, क्योंकि यह मन्त्र
विहित अर्थ का अभिधान करनेवाला न होकर विधान करनेवाला (आलम्भन
का विधान करने वाला) है । यदि यह कहा जाय कि 'जो मनन का हेतु हो
वह मन्त्र है' तो ब्राह्मण में अतिव्याप्ति हो जायेगी अर्थात् जिन ब्राह्मणवाक्यों
को मन्त्र कहना अभीष्ट नहीं है, उनपर भी यह लक्षण लागू हो जायेगा, क्योंकि
मनन के हेतु ब्राह्मण वाक्य भी होते हैं, उनके द्वारा भी मनन किया जाता है ।
इस प्रकार लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हो जायेगा । इसी प्रकार जिसके
अन्त में 'असि' यह पद हो उसे मन्त्र कहते हैं अथवा जिसके अन्त में कोई उत्तम
पुरुष का पद हो उसे मन्त्र कहते हैं । मन्त्र का ऐसा लक्षण करने पर परस्पर में
अव्याप्ति हो जाएगी, अर्थात् एक लक्षण दूसरे पर लागू न हो सकेगा । सिद्धान्त-
पक्षी की ओर से इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा जा रहा है कि बात
ऐसी नहीं है । याज्ञिकों के द्वारा जिस वाक्य का मन्त्र के रूप में समाख्यान होता
है, वह मन्त्र का निर्दोष लक्षण है । वह समाख्यान अनुष्ठान के स्मारक आदि
वाक्यों का मन्त्र होना सिद्ध करता है । उदाहरणार्थ—'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्र

इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः । 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१)
 इत्यादयः स्तुतिरूपाः । 'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) इत्यादयस्त्वान्ताः
 'अग्न आयाहि वीतये' (तै० ब्रा० ३।५।२।१) इत्यादय आमन्त्र-
 णोपेताः । 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैष-
 रूपाः । 'अघः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५)
 इत्यादयो विचाररूपाः । 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन'
 (तै० सं० ७।४।१९।१) इत्यादयः परिदेवनरूपाः । 'पृच्छामि त्वां
 परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादयः प्रश्नरूपाः ।
 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादय उत्तर-
 रूपाः । एवमन्यदप्युदाहार्यम् । ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यान-
 मन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत । लक्षण-
 स्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शित—

अनुष्ठान के स्मारक हैं । 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र स्तुतिरूप हैं ।
 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र त्वान्त (जिनके अन्त में 'त्वा' पद है) हैं । 'अग्न
 आयाहि वीतये' आदि मन्त्र आमन्त्रण वाले हैं । 'अग्नीदग्नीन् विहर' इत्यादि मन्त्र
 प्रैष (आदेश) रूप हैं । अघः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् आदि मन्त्र
 विचार रूप हैं । 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन' इत्यादि मन्त्र
 परिदेवन (विलाप रूप) हैं । 'पृच्छामि त्वां परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादि मन्त्र
 प्रश्नरूप हैं । 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादि मन्त्र उत्तररूप हैं । इसी
 प्रकार अन्य प्रकार के मन्त्रों को भी उदाहृत किया जा सकता है । इस
 प्रकार के (विषय और शैली आदि की दृष्टि से एक दूसरे से) नितान्त विभि-
 न्नता वाले वैदिकवाक्यों में याज्ञिकों के समाख्यान के अतिरिक्त ऐसा कोई अनुगत
 (सब में रहने वाला) धर्म नहीं है, जिसको मन्त्र का सामान्य लक्षण कहा जा
 सके । और लक्षण का उपयोग पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार दिखाया है—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।

लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥

तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम् ।

अष्टमाधिकरणमारचयति

नास्त्येतद् ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा ।

नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः ॥

मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः ।

अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥

(जै० न्या० मा० २।१।८)

“ऋषि लोग भी पदार्थों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करके उनके अन्त को नहीं प्राप्त कर सकते, किन्तु विद्वान् लोग लक्षण के द्वारा सिद्ध पदार्थों के अन्त को प्राप्त कर लेते हैं” ।

इसलिए अभियुक्तों (विद्वान् याज्ञिकों) का ‘यह मन्त्र है’ इस प्रकार का समाख्यान (कथन) ही मन्त्र का लक्षण है, अर्थात् याज्ञिक लोग जिस वाक्य को मन्त्र कहें, वही मन्त्र है ।

मीमांसासूत्रों के अष्टम अधिकरण के विषयों का संकलन यह है—

(प्रश्न) ‘एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवीषि’ इस ब्राह्मण वाक्य में जो ब्राह्मण शब्द पाया जाता है, उसका लक्षण क्या नहीं है ? अथवा उसका लक्षण है ? (पूर्वपक्ष) वेद के इतने भाग हैं’ इस प्रकार की क्लृप्ति (निश्चय) के अभाव के कारण ब्राह्मण का कोई लक्षण नहीं है । (सिद्धान्तपक्ष) वेद के मन्त्र और ब्राह्मण ये दो भाग हैं । इसलिए मन्त्र से भिन्न को ब्राह्मण कहते हैं, यह ब्राह्मण का लक्षण है ।

चातुर्मास्येष्विदमास्नायते—‘एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि’
(तै० ब्रा० १।७।१।१ इति । तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति । कुतः ?
वेदभागानामित्यतानवधारणेन ब्राह्मणभागेष्वन्यभागेषु च लक्षणस्य
अव्याप्त्यतिव्याप्तयोः शोधयितुमशक्यत्वात् । पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः ।
भागान्तराणि च कानिचत् पूर्ववदाहर्तुं संतुहीतानि—

हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।

परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥ इति ।

‘तेन ह्यन्नं क्रियते’ (श० ब्रा० २।५।२।२३) इति हेतुः । ‘तद्वध्नो
दधित्वम्’ (तै० सं० २।५।३।४) इति निर्वचनम् । ‘अमेध्या वै
भाषा’ (तै० सं० ५।१।८।१) इति निन्दा । वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता’
(चै० सं० २।१।१।१) इति प्रशंसा । ‘तद्व्यचिकित्सज्जुहवानीरेमा

तैत्तिरीय ब्राह्मण के चातुर्मास्य प्रकरण में ‘एतद्ब्राह्मणानि पञ्च हवींषि’ ।
यह वाक्य कहा गया है । इसमें जो ब्राह्मण शब्द आया है, उसका पूर्वपक्षी के अनु-
सार लक्षण नहीं है । क्यों ? वेद के इतने भाग हैं, इसका निश्चय न हो सकने से
ब्राह्मण भाग और अन्य (मन्त्रादि) भागों में ब्राह्मण के लक्षण की अव्याप्ति और
अतिव्याप्ति के शोधन के सम्भव न हो सकने के कारण अर्थात् वेद के कितने
अलग-अलग भाग हैं, इसका निश्चय नहीं है, इस कारण ब्राह्मण का जो भी लक्षण
किया जाएगा, उसके अव्याप्ति और अतिव्याप्ति रूप दोष को वेद के ब्राह्मण और
उससे भिन्न मन्त्र भागों में लागू होने से रोका न जासकेगा । वेद के अनेक भागों
में से एक तो मन्त्र भाग है, जिसे पहले कहा का चुका है । अन्य कुछ भागों को
पूर्वाचार्यों ने उदाहरण के लिए, इस प्रकार संकलित किए हैं—

‘हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प और व्यव-
धारण कल्पना’ ।

‘तेन ह्यन्नं क्रियते’ (क्योंकि उसके द्वारा अन्न का निर्माण किया जाता है)
शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य में हेतु का कथन किया गया है । ‘तद्वध्नो दधि-
त्वम्’ (वह दही का दहीपन है—उसे दही कहते हैं) इस वाक्य में ‘दधि’ शब्द का
निर्वचन (व्युत्पत्ति) किया गया है । ‘अमेध्या वै भाषाः’ (उड़द अमेध्य अर्थात्
अपवित्र होता है) इसमें अमेध्य कहकर उड़द को निन्दा की गई है । ‘वायु
र्वै क्षेपिष्ठा देवता’ (निश्चय ही वायु अत्यन्त गतिशील देवता है) इस वाक्य में
गतिशीलता का कथन करके वायु की प्रशंसा की गई है । ‘तद्व्यचिकित्सज्जुहवानीरे

हौषा३म्' (तै० सं० ६।५।९।१) इति संशयः । 'यजमानेन संमितौदुम्बरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३) इति विधिः 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः । 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै० सं० १।५।७।५) इति पुराकल्पः । 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति विशेषावधारणकल्पना । एवमन्यदयुदाहार्यम् ।

न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमितिलक्षणं, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात्—'इन्द्रवो वामुशन्ति हि' (ऋ० सं० १।२।४) इति हेतुः । 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (तै० सं० ५।६।१।३; अथर्व०

माहौषा३म्', उसने विचिकित्सा (सन्देह) प्रकट की कि मैं हवन करूँ या न करूँ इस वाक्य में हवन करने के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया है । 'यजमानेन संमितौदुम्बरी भवति' (गूलर यजमान के समान होवे) इसमें गूलर के 'यजमान के समान होने का विधान किया गया है । 'माषानेव मह्यं पचन्ति' (वे मेरे लिए उड़द ही पकाते हैं) इसमें दूसरे के द्वारा की गई पाकक्रिया का उल्लेख होने से पाकक्रिया है । 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (प्राचीन समय में ब्राह्मण लोग डर गये थे) इस वाक्य में प्राचीन बात का कथन होने से पुराकल्प है । 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' (जितने घोड़े ले उतने ही चतुष्कपालों से वरुण देवता के लिए निर्वपन करे) इस वाक्य में 'यावतः' और 'तावतः' शब्दों के प्रयोग से विशेष पदार्थ के निश्चय की कल्पना की गई है । 'वि (विशेष) + अवधारण (निश्चय)' इसी प्रकार अन्य भागों को भी उदाहृत किया जा सकता है ।

यदि सिद्धान्तपक्षी यह कहे कि हेतु आदि में से किसी एक को ब्राह्मण का लक्षण कहा जा सकता है, तो यह उचित न होगा, क्योंकि हेतु आदि का अस्तित्व (केवल ब्राह्मणों में ही न होकर) मन्त्रों में भी होता है । उदाहरण के लिए—'इन्द्रवो वामुशन्ति हि' (क्योंकि इन्द्र तुम दोनों की कामना करते हैं) इस वाक्य में 'हि' से हेतु का निर्देश किया गया है । 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते'

३।१३।४) इति निर्वचनम् । 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' (ऋ० सं० १०।११।७।६) इति निन्दा । 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (ऋ० सं० ८।४।१६) इति प्रशंसा । 'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्' (ऋ० सं० १०।१२।५) इति संशयः । 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २।४।२०) इति विधिः । 'सहस्रमयुता ददत्' (ऋ० सं० ८।२।१।१८) इति परकृतिः । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० सं० १।१६।७।५०) इति पुराकल्पः । इतिकरणबहुलं ब्राह्मणमिति चेत्, न, इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० ३।६।१।४।३) इत्यस्मिन्

(क्योंकि जल पृथ्वी को ऊपर ले आया, इसलिए उसे उदक कहा जाता है) इसमें 'उदक' शब्द का निर्वचन दिया गया है । 'मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः' (अज्ञानी व्यक्ति का भोजन करना व्यर्थ है) इस वाक्य में अन्नप्राप्ति को व्यर्थ कहकर उसकी निन्दा की गई है । 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (अग्नि झुलोक का सिर और ककुत् (डील—पीठ पर ऊपर की ओर उठा हुआ मांसपिण्ड है) इस वाक्य में अग्नि को झुलोक का सिर ककुत् कहकर उसकी प्रशंसा की गई है । 'अधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्' (वह नीचे था अथवा ऊपर था) इस वाक्य में सन्देह की अभिव्यक्ति हुई है । 'वसन्ताय कपिञ्जलान् लभते' (वसन्त के लिए कपिञ्जलों का आलम्भन करे । इसमें कपिञ्जलों के आलम्भन (वध) का विधान किया गया है । 'सहस्रमयुता ददत्' (उसने, हजार दस हजार दिए) इसमें दूसरे के द्वारा दान का उल्लेख होने से परकृति है । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञरूप परमात्मा का यजन किया) । इसमें प्राचीन आख्यान का संकेत होने से पराकल्प है । स्पष्ट है कि हेतु आदि के मन्त्रों में भी होने के कारण 'हेतु आदि में से अन्यतम ब्राह्मण है' ऐसा ब्राह्मण लक्षण नहीं किया जा सकता । यदि कोई यह कहे कि 'जिस वैदिक वाक्य में इतिकरण का बाहुल्य हो, उसे ब्राह्मण कहते हैं' । यह ब्राह्मण का लक्षण करेंगे, तो यह ठीक न होगा, क्योंकि 'इत्यददा इत्ययजथा

ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेऽतिव्याप्तेः । 'इत्याह' इत्यनेन वाक्येनोपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० सं० ७।४।१२), 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरश्मीत्याह' (ऋ० सं० ७।१०।४।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः । आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्, न, यमयमीसंवादसूक्तादौ (ऋ० सं० १०।१०) अतिव्याप्तेः ।

तस्मात् नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः । मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागौ इत्यङ्गीकारात् मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वादवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति । तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मणशब्द' (जै० सं० २।१।३२-३३) इति ।

इत्यपचः इति ब्राह्मणो गायेत्' ब्राह्मण के द्वारा गाये जाने योग्य इस मन्त्र में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है ('इति' की बहुलतावाला यह वाक्य याज्ञिकपरम्परा के अनुसार मन्त्र है, इसी कारण 'इतिकरण की बहुलता' को ब्राह्मण का लक्षण मानने पर इसमें अतिव्याप्ति होगी) । यदि कोई कहे कि जो वाक्य 'इत्याह' (ऐसा कहा है) इस वाक्य से (अन्त में) युक्त हो वह ब्राह्मण है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह' तथा 'यो मायातुं यातुधानेत्याह' यो वा रक्षाः शुचिरश्मीत्याह' इन दोनों ऋग्वैदिक मन्त्रों में, इनके 'इत्याह' इस वाक्य से उपनिबद्ध होने के कारण, अतिव्याप्ति होती है । 'जो आख्यायिका (कथा) रूप हो उसे ब्राह्मण कहते हैं' ऐसा लक्षण करने पर भी ऋग्वेद के 'यम यमी' आदि सूत्रों में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि इन सूक्तों में (जो मन्त्र समुच्चय रूप हैं) आख्यायिका पाई जाती है ।

इस प्रकार पूर्वपक्षी की दृष्टि में ब्राह्मण का कोई लक्षण नहीं है । इसपर सिद्धान्तपक्षी उसका उत्तर देता हुआ कहता है, 'वेद के दो ही भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण' यह स्वीकार कर लेने तथा मन्त्र का लक्षण पूर्व में कह दिए जाने के कारण 'उस मन्त्रभाग से अवशिष्ट वैदिक भाग ब्राह्मण है' यह ब्राह्मण का लक्षण होगा । आचार्य जैमिनि ने मीमांसासूत्रों में मन्त्र और ब्राह्मण के इन दोनों ही उपर्युक्त लक्षणों को इस प्रकार सूत्रित किया है—

तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदा-
यविद्विव्यद्विह्यते—‘मन्त्रानधीमेहे इति’ । मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु
ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः ।

ननु ब्राह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा
आस्नायन्ते—‘यद् ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नारा-
शंसीः’ (तै० आ० २।९) इति । मैवम् । विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणा-
द्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथगभिधानात् । ‘देवासुराः संयत्ता
किंचनासीत्’ (तै० ब्रा० २।२।९।१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य
आसन्’ (तै० सं० ५।३।१।१) इत्यादय इतिहासाः । ‘इदं वा अग्रे नैव

‘तच्चोदकेषु मन्त्राख्या’ (वेद के उन वाक्यों को मन्त्र कहा जाता है, जो उस
अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म के विधायक और सिद्धार्थ के अभिधायक होते हैं) । ‘शेषे
ब्राह्मणशब्दः’ (मन्त्र से भिन्न वैदिकवाक्यों के लिए ब्राह्मण शब्द का प्रयोग होता
है) इन दोनों सूत्रों का भाव यह है कि उस वेद में कुछ अभिधायक वाक्यों के लिए
सम्प्रदाय वेत्ता ‘मन्त्रानधीमेहे’ के रूप में मन्त्र संज्ञा का प्रयोग करते हैं और मन्त्रों
से भिन्न भाग के लिए उन लोगों ने ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि तैत्तिरीय आरण्यक के ब्रह्मयज्ञ प्रकरण में, वेद में,
मन्त्र और ब्राह्मण के अतिरिक्त इतिहास आदि भागों को भी कहा गया है ।
उदाहरण के लिए ‘यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः’
इस वाक्य में इतिहास आदि को ब्राह्मण से भिन्न माना गया है । ऐसी स्थिति में
यह कहना कि वेद के मन्त्र और ब्राह्मण नामक दो ही भाग हैं, उचित नहीं प्रतीत
होता । सिद्धान्तपक्षी का इस पर कहना है कि यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि
जिस प्रकार परिव्राजक (संन्यासी) के ब्राह्मण जाति के अन्तर्गत होते हुए भी
उनका उल्लेख ब्राह्मणों के साथ उनसे भिन्न परिव्राजक के रूप में भी कर दिया
जाता है, उसी प्रकार यद्यपि इतिहास आदि ब्राह्मण के ही अवान्तर भेद हैं । फिर
भी उक्त वाक्य में, ब्राह्मण के साथ साथ उनका उनसे भिन्न के रूप में भी उल्लेख
कर दिया गया है । उदाहरण के लिए ‘देवासुराः संयत्ता आसन्’ (देवता और
असुर सन्नद्ध थे) इत्यादि ब्राह्मणवाक्य इतिहास हैं । ‘इदं वा अग्रे नैव किंचना-

सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम् । कल्पस्तु आहणकेतुकचयनप्रकरणे समास्नायते--'इति मन्त्राः । कल्पोऽत ऊर्ध्वम् । यदि बलिं हरेत् (तै० आ० १।३।१२ इति । अग्निचयने 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः । मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादका ऋचो नाराशंस्यः । तस्मात् मन्त्रब्राह्मण्यतिरिक्तभागाभावात् मन्त्रब्राह्मणस्वरूपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकत्वं वेदस्य सुस्थितम् ।

मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन्नेव पादे इत्थं विचारितः ।

सीद्' (सृष्टि के प्रारम्भ में यह सब कुछ नहीं था) इत्यादि संसार की आदिम अवस्था से प्रारम्भ करके सृष्टि का प्रतिपादन करनेवाला वाक्यसमूह पुराण है । कल्प का तो उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक के आहणकेतुकचयन प्रकरण में इस प्रकार किया गया है--'इति मन्त्राः । कल्पोऽत ऊर्ध्वम् । यदि बलिं हरेत्' । (ऊपर कहे गए ये मन्त्र हैं । इसके बाद 'यदि बलिं हरेत्' ये सब कल्प हैं) । तैत्तिरीय संहिता के अग्निचयन प्रकरण के 'यमगाथाभिः परिगायति' (यमगाथाओं के द्वारा गान करे) इस वाक्य में जिन मन्त्रों का विधान किया गया है, अर्थात् 'यमगाथा' शब्द से जिन मन्त्रों की ओर संकेत किया गया है, उन विशिष्ट मन्त्रों को गाथा कहा जाता है । मनुष्य के वृत्तान्त का प्रतिपादन करनेवाली ऋचाओं को नाराशंसी कहते हैं । इस प्रकार वेद में, मन्त्र और ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी भाग के न होने से तथा मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप (लक्षण) के पूर्व में लक्षित हो जाने से वेद का मन्त्र ब्राह्मणत्मक होना पूर्णतया स्थिर हो गया ।

मन्त्र के अवान्तर भेद मन्त्र और ब्राह्मण के इस स्वरूप निर्णय के साथ ही आचार्य जैमिनि ने मीमांसासूत्रों के द्वितीय अध्याय के उसी प्रथम पाद में मन्त्र के अवान्तर भेदों का विचार इस प्रकार किया है^१ । उस विषय का संकलन आचार्य विद्याख्य ने 'जैमिनि न्यायमाला' में इस प्रकार किया है--

१. 'तस्मिन्नेव पादे इत्थं विचारितः' में 'पादे' से तात्पर्य मीमांसासूत्रों के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद से है, किन्तु इसके बाद वहाँ के सूत्रों को न देकर जो 'जैमिनि न्यायमाला' से उद्धरण दिया गया है, उससे असंगति स्पष्ट है ।

नक् सामयजुषां लक्ष्म सांकर्यादिति शङ्किते ।

पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसंकरः ॥ (जै० न्या० २।१।१०)

इदमाप्नायते-‘अहे बुध्निय मन्त्रं मे’ गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः ।

ऋचः सामानि यजूंषि’ (तै० ब्रा० १।२।१२।६) इति । त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः । त्रिविदां संबन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः । ते च यं मन्त्रभागम् ऋगादिरूपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना । तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति । कुतः ? सांकर्यस्य दुष्परिहरत्वात् । अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति लक्षणं वक्तव्यम् । तच्च संकीर्णम् । ‘देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण

‘ऋक्, साम और यजुष् का, उनके लक्षणों के पारस्परिक सांकर्य के कारण अलग-अलग कोई लक्षण नहीं है पूर्वपक्षी की ओर से ऐसी आशंका के उपस्थित होने पर सिद्धान्तपक्षी का उत्तर है कि इन तीनों के लक्षणों में कोई सांकर्य नहीं है, क्योंकि ऋक् का लक्षण उसका पादबद्ध होना है, साम का लक्षण उसका गीति-रूप होना और यजुष् का लक्षण उसका छन्द और गीति से रहित होकर प्रश्लिष्ट पठित होना है’ ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ‘अहे बुध्निय मन्त्रं मे’ गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि ‘यजूंषि’ हे बुध्निय ! तुम मेरे (उस) मन्त्र की रक्षा करो जिसे ऋक्, साम और यजुष् इन तीनों वेदों को जानने वाले ऋषि लोग ऋक् आदि के रूप में समझते यह वाक्य कहा गया है’), जो तीनों वेदों को जानते हैं, वे त्रिविद कहलाते हैं । त्रिविदों से सम्बन्ध रखने वाले (वेदों के) अध्येता त्रैविद कहलाते हैं । और उन त्रैविदों ने वेदों के जिस मन्त्र भाग को ऋक्, आदि के रूप में तीन प्रकार का बतलाया है, उसकी रक्षा करो, यह (उपर्युक्त वैदिक वाक्य की) योजना है । इनमें ऋक्, साम और यजुष् इन तीनों ही प्रकार के मन्त्रों का कोई व्यवस्थित लक्षण नहीं है क्योंकि इनके लक्षणों में जो पारस्परिक

वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे संप्रतिपन्नयजुषां मध्ये पठितः । न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति तद्ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चा' (तै० ब्रा० ३।२।५।३) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात् । 'एतत्साम गायन्नास्ते' (तै० आ० १।१०।५) इति प्रतिज्ञाय किञ्चित् साम यजुर्वेदे गीतम् । 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' (छा० उप० ३।१७।६) इति त्रीणि यजुषि समावेदे समास्नातानि । तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः समावेदे समास्नायन्ते । तस्मात् नास्ति लक्षणमिति

सांकर्य नामक दोष पाया जाता है । अर्थात् इनमें से प्रत्येक के लक्षण जो एक दूसरे की सीमाओं में प्रवेश कर जाते हैं, उस दोष का निराकरण कर पाना अत्यन्त कठिन है । उदाहरण के लिए यदि कोई मन्त्र का यह लक्षण करे कि अध्यापकों में प्रसिद्ध ऋग्वेद आदि में जो मन्त्र पढ़ा गया है, वह ऋगादि है, अर्थात् ऋग्वेद में पढ़ा गया 'ऋक्', सामवेद में पढ़ा गया 'साम' और यजुर्वेद में पढ़ा गया 'यजुष्' है, तो यह लक्षण संकीर्ण (परस्पर अतिव्याप्त) होगा, क्योंकि 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (ऋग्वेद का) यह मन्त्र यजुर्वेद के निश्चित यजुषों के मध्य में पढ़ा गया है । इस प्रकार इसे यजुष् होना चाहिए, किन्तु इस मन्त्र का यजुष् होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उस (यजुर्वेद) के ब्राह्मण में इस मन्त्र के सम्बन्ध में 'सावित्र्यर्चा' (इसमें सविता की अर्चा है, ऐसा कहकर इसका व्यवहार ऋक् के रूप में किया गया है । इसी प्रकार 'एतत्साम गायन्नास्ते (इस साम को गाता है) ऐसी प्रतिज्ञा करके, अर्थात् ऐसा कहकर कुछ साम यजुर्वेद में गाए गए हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षण के अनुसार यजुर्वेद में गाए गए होने से उसे यजुष् होना चाहिए था, किन्तु है वह साम । 'अक्षितमसि' 'अच्युतमसि' और 'प्राण संशितमसि' ये तीन यजुष् सामवेद में पढ़े गए हैं—इन्हें भी होना चाहिए साम किन्तु ये यजुष् हैं । इसके अतिरिक्त गाए जानेवाले साम की आश्रयभूत ऋचाएँ सामवेद में पढ़ी जाती हैं—ये मन्त्र सामवेद में पठित होने के कारण साम होने चाहिए, किन्तु वास्तव में ऋक् हैं ।

चेत्, न, पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात् । पादेन अर्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्ट-
पठिता मन्त्राः यजुषि इत्युक्ते न क्वापि संकरः । तदेतत् त्रैविध्यं जैमि-
निना सूत्रत्रयेन लक्षितम्—

‘तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था’

‘गीतिषु सामाख्या’

‘शेषे यजुशब्दः’ (जै० सू० २।१३५-३७) इति ।

एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानामृग्यवेदो यजुर्वेदः समावेद
इति त्रैविध्यं संपन्नम् ।

इस प्रकार ऋक्, साम और यजुष् रूप मन्त्र का पृथक् पृथक् कोई लक्षण नहीं है । सिद्धान्तपक्षी पूर्वपक्षी के इस आक्षेप का उत्तर देता हुआ कहता है कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऋक् आदि के पाद आदि के रूप में जो लक्षण किए गए हैं वे संकीर्ण नहीं है—कहने का तात्पर्य यह कि पाद आदि से भिन्न रूप में ऋगादि का लक्षण करने पर उनके लक्षणों में सांकर्य अवश्यम्भावी है, किन्तु पादादि के रूप में करने पर वह नहीं होता । पाद और अर्थ से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्र ऋक् हैं, गीतिरूप मन्त्र साम हैं तथा छन्द और गीति से रहित प्रश्लिष्ट पढ़े हुए मन्त्र यजुष् हैं, ऐसा लक्षण करने पर इनके लक्षणों में कहीं भी सांकर्य नहीं आता । मन्त्रों के इस त्रैविध्य को आचार्य जैमिनि ने निम्नलिखित दो सूत्रों के द्वारा लक्षित किया है—

‘इनमें वह मन्त्र ऋक् कहलाता है, जिससे अर्थ के अनुसार पाद व्यवस्था होती है’ ।

‘गीतियों के लिए साम का प्रयोग होता है’ ।

‘शेष मन्त्रों के लिए यजुष् शब्द का प्रयोग होता है’ ।

मन्त्र के इन्हीं अवान्तर भेदों के आधार पर वेदों का त्रैविध्य—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये तीन भेद—उपपन्न होते हैं, अर्थात् मन्त्र के अवान्तर विशेषों के अनुसार ही वेद के भी तीन भेद हो गए हैं ।

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेण अध्ययनमुपनीतेन कर्तव्यम् । तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति—‘वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्’ इति । एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरंपराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ (तै० आ० २।१५) इति स्वशब्द आस्नातिः । तच्चाध्ययनं न काम्यं किंतु नित्यम् । अतएव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—

‘वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्’ इति । पातित्यं चैवमास्नायते—
‘अपरपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्तं योजनूत्सृजत्यभागे

वेद का स्वाध्याय

उपर्युक्त सभी वेदों अथवा उनमें से किसी एक का अध्ययन उपनीत (जिसका उपनयन हो चुका हो) व्यक्ति को अपनी बुद्धि के अनुसार करना चाहिए । जैसा कि याज्ञवल्क्य का कथन है—‘वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्’ (क्रमशः सभी वेदों अथवा दो वेदों अथवा एक वेद का अध्ययन करके) । एक वेद के पक्ष में अर्थात् जब एक ही वेद पढ़ना हो तब अपने पिता और पितामह आदि की परम्परा से प्राप्त वेद का ही अध्ययन करना चाहिए । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ (स्वाध्याय का अध्ययन करे) इस वाक्य में अध्याय के पूर्व ‘स्व’ शब्द का उपादान किया गया है । एक वेद का यह अध्ययन काम्य न होकर नित्य (अनिवार्य) है—अर्थात् एक वेद का अध्ययन तो व्यक्ति को अनिवार्य रूप से करना ही चाहिए । इसीलिए ‘पुरुषार्थानुशासन’ में कहा गया है—

‘एक वेद का अध्ययन नित्य है, क्योंकि उसका अध्ययन न करने से अधःपतन होता है’ । इस अनध्ययनजन्य अधःपतन को इस प्रकार कहा गया है—‘यह जो स्वाध्याय है वह पाप को नष्ट करनेवाला तथा देवताओं को भी पवित्र करनेवाला है । जो इस स्वाध्याय का परित्याग कर देता है उसका भाग वाणी (बोलने में) और स्वर्ग में नहीं रहता । यही बात ऋग्वेद का यह मन्त्र

वाचि भवत्यभ्रगो नाकेतदेषाभ्युक्ता—यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भ्रगो अस्ति । यदौ शृणोत्यलीकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पत्न्यामिति । तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै० आ० २।१५) इति । अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रयातिसाभिज्ञानेन सखिवत् पालयती सखिविद्वेदः । बहुद्वयप्रयाससाध्यक्रतुफलस्याध्ययनमात्रेण संपादनं तत्पालनम् । तदध्याम्नायते—‘यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायज्यं गच्छति’ (तै० आ० २।१५) इति ।

यद्यप्येतत् ब्रह्मयज्ञस्वध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासंभवात् तदीयफलमपि संपद्यते । ईदृशं सखिविदं वेदरूपं

कहता है—‘जो व्यक्ति सखा के समान पालन करनेवाले वेदरूप मित्र का परित्याग करता है, उसका वाणी में भी भाग नहीं रहता । वह जो कुछ सुनता है, मिथ्या सुनता है और वह सुकृत के मार्ग को नहीं जानता’ । इसलिए स्वाध्याय (अपने एक वेद) का अध्ययन करना चाहिए । उक्त आरण्यक वाक्य में प्रयक्त सखिविद शब्द वेद के लिए आया है । वेद को सखिविद् इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह अध्ययन करनेवाले के प्रयास को जानकर उसका मित्र के समान पालन करता है [सखि + √विद् (जानार्थे) + क्विप्] । मित्र के समान उसके पालन से तात्पर्य है, बहुत अधिक धन और प्रयास के द्वारा किए जानेवाले यज्ञ के फल का केवल अध्ययन के द्वारा सम्पन्न कर देना । इस बात को भी तैत्तिरीय आरण्यक में इस प्रकार कहा गया है—

‘व्यक्ति जिम-जिम यज्ञ का अध्ययन करता है, उस-उस के द्वारा उसका इष्ट (कार्य पूर्ण) होता है तथा वह अग्नि, वायु और आदित्य के सायुज्य (तल्लीनता) को प्राप्त करता है’ ।

यद्यपि यह सायुज्यप्राप्ति ब्रह्मयज्ञ के स्वाध्याय का फल है, फिर भी ग्रहण (कंठस्थीकरण या बोध) के लिए किए जानेवाले अध्ययन के बिना ब्रह्मयज्ञ का होना ही संभव नहीं है, फलस्वरूप सायुज्यप्राप्तिरूप यह फल बोधार्थक अध्ययन का भी फल हो जाता है । इस प्रकार सखिविद् अर्थात् वेदरूप मित्र को जो पुरुष बिना अध्ययन किए ही छोड़ देता है, उसका भाग्य वाणी में भी

सखायं यः पुमानध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति ।
 फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम् । सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मत-
 स्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दानृतकमहहेतुं लौकिकीं वार्तां
 सर्वत्रोच्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः । अतः एवास्मायते—
 'नानुध्यायाद्बहुञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' । (बृ० उ० ४।४।२१)
 इति । यद्यप्यसौ काव्यनाटकादिकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्र-
 वणं तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावादित्यर्थः । स्मृतिरपि—

योजनधीत्य द्विजो वेदान्त्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनु० २।१६८) इति ।
 एवमन्यान्यपि बहूनि वचनान्यत्रोदाहर्तव्यानि ।

नहीं है, फल में (उसका) भाग्य नहीं है, इसका तो कहना क्या ? क्योंकि
 समस्त देवताओं, धर्म और पर ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले वेद का
 उच्चारण न करके पर निन्दा, मिथ्याभाषण और कलह की कारणभूत लौकिक
 बातों का सर्वत्र, उच्चारण करनेवाले व्यक्ति का वाणी में भाग्याभाव स्पष्ट है ।
 इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—'बहुत अधिक शब्दों का
 अनुध्यान (चिन्तन, स्मरण या उच्चारण) नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह
 (अनुध्यान) वाणी को दूषित करना है' । भाव यह है कि यद्यपि वह काव्य
 और नाटक आदि को सुनता है, तथापि उसका वह श्रवण निरर्थक ही है, क्योंकि
 उससे सुकृतमार्ग का ज्ञान नहीं होता । स्मृति भी यही कहती है—

'जो द्विज वेदों का अध्ययन न कर अन्यत्र (अन्य विषयों में) परिश्रम
 करता है, वह शीघ्र ही, सपरिवार शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है' । इस सन्दर्भ
 में, इसी प्रकार अन्य भी बहुत से उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है ।

यह कहा जा सकता है कि वेद का अध्ययन कर लेने के पश्चात् ही
 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन का विधान करनेवाले वाक्य के अर्थ का ज्ञान
 होता है, दूसरी ओर अर्थ का ज्ञान होने पर ही अध्ययन में प्रवृत्ति होती है, इस
 प्रकार अध्ययन और अर्थज्ञान के एक दूसरे पर आश्रित होने के कारण अन्यो-

ननु, अधीते वेदे पश्चात् अध्ययनविध्यर्थज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चात् अध्ययनप्रवृत्तिः, इत्यन्योन्याश्रय इति चेत्, बाढम् । अत एव गुरुमतानुसारिणः आचार्यकृतं काव्यापनेन प्रवृत्ति माणवकाध्ययनस्य महता प्रयासेन संपादयन्ति । मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव संध्यावन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविधिज्ञानं वर्णयन्ति । यद्यध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः सर्वथाप्युपनीतैरध्येतव्य एव वेदः । तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वम् अक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम् । तानि सूत्राणि तद्वृत्ति च उदाहरामः—

न्याश्रय दोष उपस्थित हो जाता है । इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्त-पक्षी कहता है कि पूर्वपक्षी की शङ्का यथार्थ है । वस्तुतः इस दोष से बचने के लिए ही, प्रभाकर गुरु के मत का अनुसरण करनेवाले मीमांसक आचार्य के द्वारा किए जाने वाले अव्यायन के द्वारा बालक के अध्ययन की प्रवृत्ति का महान् प्रयत्न के साथ सम्पादन करते हैं । उनसे भिन्न अर्थात् कुमारिल भट्ट के मत का अनुसरण करनेवाले प्रकाशात्म यति आदि मीमांसक तो कहते हैं कि जिस प्रकार सन्ध्यावन्दन आदि विधियों का ज्ञान अध्ययन से पूर्व ही विद्यार्थी को अपने पिता आदि से हो जाता है, उसी प्रकार अध्ययनविधि का ज्ञान भी उसे अपने पिता आदि से ही हो जाएगा^१ । वेद के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति चाहे गुरुमतानुयायियों के अनुसार अव्यापनविधि के द्वारा ही अथवा अध्ययन विधि के द्वारा हो, उपनीत (जिनका उपनयन संस्कार सम्पन्न हो चुका हो) व्यक्तियों को सभी प्रकार से वेद का अध्ययन करना ही चाहिए । वेद का यह अध्ययन दृष्ट प्रयोजन के लिए होता है, अर्थात् उसका उद्देश्य अदृष्ट न होकर दृष्ट होता है तथा उसकी सीमा अक्षर ग्रहण तक होती है, इस बात को हमने अपने 'पुरुषार्थानुशासन' नामक ग्रन्थ में सूत्रित (सूत्रों में विवेचन) किया है । 'पुरुषार्थानुशासन' के उन सूत्रों और उनकी वृत्ति को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं ।

१. उपर्युक्त पंक्तियों के भाव को इस प्रकार समझा जा सकता है । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'पुरुषार्थानुशासन' नामक यह ग्रन्थ आचार्य सायण का ही लिखा प्रतीत होता है, क्योंकि एक तो उन्होंने इसके रचयिता का कहीं नाम नहीं दिया है, दूसरे उनके ग्रन्थों में 'पुरुषार्थ सुधानिधि' का उल्लेख मिलता है । कदाचित् 'पुरुषार्थ सुधानिधि' का ही ऊपर नाम पुरुषार्थानुशासन हो ।

अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—

‘अदृष्टार्था त्वधीर्तिविहितत्वात्’ इति ।

दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनाद् विहितमपि अध्ययनमदृष्टार्थ-

वेद के अध्ययन का उद्देश्य दृष्ट अर्थात् लौकिक है, इस बात को सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—‘विहित होने के कारण अध्ययन का प्रयोजन अदृष्ट है’ ।

दृष्टफल (तृप्ति) के साधनभूत भोजन आदि में विधि के न दिखलाई पड़ने के कारण विहित किए गए अध्ययन का भी प्रयोजन अदृष्ट को मानना चाहिए—कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में जो भी दृष्टफल होता है, उसके लिए तो व्यक्ति सदैव स्वतः आकृष्ट रहता ही है, अतएव, उसके लिए किसी प्रकार की विधि भी दिखलाई नहीं पड़ती । उदाहरण के लिए ‘भोजन करने से तृप्ति मिलती है’ में तृप्ति दृष्टफल है, किन्तु उसके लिए कहीं भी ‘भोजन करना चाहिए’ इस रूप में विधान किया नहीं मिलता है । इसके विपरीत जो फल अदृष्ट (अलौकिक) होते हैं, उनके प्रति व्यक्ति स्वतः प्रवृत्त नहीं होता । उसे प्रवृत्त करने के लिए विधान किया जाता है । प्रकृत में, चूँकि, अध्ययन का विधान किया गया है, इसलिए उसका फल दृष्ट न होकर अदृष्ट है, ऐसा मानना चाहिए ।

इस तैत्तिरीय आरण्यक के वाक्य को, वेदाध्ययन के प्रति प्रेरित करने के कारण अध्ययनविधि कहा जाता है । प्रकृत में शंका यह है कि माणवक को जबतक अध्ययनविधि का ज्ञान न होगा तबतक अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति ही न होगी । दूसरी ओर यह भी सही है कि इस अध्ययनविधि का ज्ञान उसे तब होगा जब वह समस्त वैदिक संहिताओं का अध्ययन करने के पश्चात् तैत्तिरीय आरण्यक के अध्ययन में प्रविष्ट होगा, अर्थात् विधिज्ञान के पहले ही उसकी प्रवृत्ति अध्ययन में हो चुकी होगी । स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में विधिज्ञान अध्ययनप्रवृत्ति के ऊपर आश्रित होता है और अध्ययनप्रवृत्ति में विधिज्ञान के ऊपर निर्भर होती है, अर्थात् दोनों के परस्पर आश्रित होने के कारण अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो जाता है ।

इस शङ्का के समाधान के प्रसङ्ग में सिद्धान्तपक्षी ने उपर्युक्त दोष को स्वीकार करते हुए मीमांसा के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के एतत्सम्बन्धी उत्तर को प्रस्तुत किया है । इस सम्बन्ध में गुरुमत के अनुयायियों का कथन है कि माणवक को वेदाध्ययन में प्रवृत्ति उपर्युक्त विधिज्ञान से नहीं होती, अपितु उसे अध्यापक ही अपने अध्यापकत्व की सिद्धि के लिए प्रेरित करता है और यह अध्यापक

मवगन्तव्यम् ॥ अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत्, तत्राह—

‘घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा’ इति ।

ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकुल्या-

शिष्य या माणवक के द्वारा किए जानेवाले अध्ययन रूप सहयोग के बिना संभव नहीं । दूसरी ओर कुमारिल के अनुयायी प्रकाशात्म यति आदि के विचार में माणवक जिस प्रकार अध्ययन के पूर्व ही पिता आदि के द्वारा सन्ध्या वन्दनादि में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति पित्रादि के उपदेश से वेदाध्ययन में भी हो जाती है । इस प्रकार दोनों के विचार में माणवक की अध्ययनप्रवृत्ति अध्ययनविधिज्ञान पर नहीं रहती । इसलिए अन्योन्याश्रय दोष का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता ।

इस पर यदि सिद्धान्तपक्षी यह कहे कि जिसका जो अदृष्ट होता है वह कहीं न कहीं कहा गया होता है, परन्तु अध्ययन के अदृष्ट को तो कहीं कहा नहीं गया है, इसलिए उसे अध्ययन का फल कैसे माना जा सकता है, तो पूर्वपक्षी की ओर से इसका यह उत्तर है—

‘घृतकुल्या आदि का अतिदेश अथवा स्वर्ग की कल्पना कर लेनी चाहिए’ १ । ब्रह्मयज्ञजप विधि के अर्थवाद का प्रस्तुत नित्य अध्ययन की विधि में अतिदेश^१ करके उस (ब्रह्मयज्ञजप के अर्थवाद) के घृतकुल्या आदि फल को, रात्रिसत्र न्याय से नित्याध्ययनविधि का फल मान लेना चाहिए, किन्तु जो लोग अर्थवादवाक्य के फल का अतिदेश नहीं मानना चाहते, उन्हें विश्वजित् न्याय से स्वर्ग को इस नित्याध्ययन वाक्य का फल मान लेना चाहिए । पूर्वपक्षी के उत्तर का भाव यह है कि अदृष्ट फलवाले जिन विधिवाक्यों में फल का कथन नहीं किया गया है, उनमें भी रात्रिसत्रन्याय अथवा विश्वजित् न्याय से फल की कल्पना कर ली जाती है । रात्रिसत्रन्याय का अर्थ है ‘रात्रि में सत्र (यज्ञ) करे’ इस विधिवाक्य के समान अर्थात् जिस प्रकार रात्रिसत्रविधि में फल का निर्देश न होने

१. ‘अतिदेश’ मीमांसाशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ है, एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर आरोप करना ।

(i) ‘अतिदेशो नाम इतर धर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः’ ।

(ii) ‘अन्यत्रैव प्रणीताया कृत्स्नाया धर्मसंहतेः ।

अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते’ ॥

दिकं रात्रिसत्रन्यायेन फलत्वेन कल्पनीयम् । ये तु अर्थवादवादिभ्यो नेच्छन्ति तैर्विश्वजित् न्यायेन स्वर्गः कल्पनीयः ॥ दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः संभवे कथमदृष्टकल्पना इत्यत आह—

पर भी उसकी कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार प्रकृत में भी फल की कल्पना कर लेनी चाहिए । रात्रि में सत्र का विधान करनेवाले विधिवाक्य में फल का निर्देश नहीं मिलता, किन्तु ताण्ड्य ब्राह्मणगत उसके 'प्रतिष्ठान्ति ह वा एते, न एता रात्रीरूपयन्ति' इस अर्थवादवाक्य में प्रतिष्ठारूप फल का निर्देश पाया जाता है । अर्थवाद के इस फल को ही रात्रिसत्रविधि का भी फल मान लिया जाता है । इसी प्रकार प्रस्तुत 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस नित्य अध्ययनविधि वाक्य में फल का निर्देश न होने पर भी ब्रह्मयज्ञजपविधिवाक्य के अर्थवाद 'सह चोऽधीते पयसः कुल्यास्थः पितृन् स्वधा अभिवहन्ति.....' में निर्दिष्ट 'पयः कुल्या' आदि फलों को नित्य अध्ययनविधि का भी फल मान लेना चाहिए, पहले नित्य अध्ययनविधिवाक्य में ब्रह्मयज्ञजपविधिवाक्य का, अध्ययन सामान्य होने के कारण अतिदेश तत्पश्चात् ब्रह्मयज्ञजपविधि के अर्थवाद का, अध्ययनविधि के साथ सम्बन्ध और उसके फल की अध्ययनविधिवाक्य के रूप में कल्पना । जो लोग अर्थवाद के अतिदेश को नहीं मानते वे उन्हें विश्वजित् न्याय से स्वर्ग की अध्ययनविधिवाक्य का फल मान लेना चाहिए । 'विश्वजित् न्याय' से तात्पर्य है 'विश्वजिता यजेत' (विश्वजित् (यज्ञ) से यजन करे) इस विधिवाक्य के समान । जिस प्रकार उक्त वाक्य में फल का निर्देश न होने पर भी सत्रके लिए अभीष्ट तथा निरतिशय सुखरूप स्वर्ग की कल्पना विश्वजित् के फल के रूप में कर ली जाती है, उसी प्रकार प्रकृत में भी स्वर्ग को स्वाध्याय के फल के रूप में मान लेना चाहिए ।

यहाँ सिद्धान्तपक्षो यह कह सकता है कि अदृष्टफल की कल्पना वहीं की जाती है, जहाँ दृष्टफल की संभावना नहीं होती (दृष्ट फले संभवति नादृष्टपरिकल्पना) । प्रकृत में स्वाध्याय के संस्कार और समस्त वेद की प्राप्ति (कण्ठस्थीकरण या बोध) रूपी फल स्वाध्याय के दृष्टिगत होते हैं । ऐसी स्थिति में अदृष्टफलों की कल्पना का क्या औचित्य है ? इसका उत्तर पूर्वपक्षी निम्नलिखित सूत्र में देता है

अयुक्ते संस्कारप्राप्ती' इति ।

संस्कृतस्वाध्यायस्य क्वचित् क्रतौ विनियोगादर्शनात् प्राप्तेः स्वयम-
पुरुषार्थत्वाच्च इत्यर्थः ।

स्वाध्याय प्राप्तिरर्थप्रमितिहेतुतया पुरुषार्थ इत्याशङ्क्य विषनि-
हर्णादिकार्यविनियुक्तमन्त्रवद् अध्ययनाद्गतया विनियुक्तानां ज्योतिष्टो-

‘संस्कार और प्राप्ति को (स्वाध्याय का फल मानना) उचित नहीं है’ ।

किसी भी यज्ञ में संस्कृत स्वाध्याय के विनियोग-का दर्शन न होने से संस्कार को और स्वाध्याय प्राप्ति के स्वतः पुरुषार्थ न होने से प्राप्ति को स्वाध्याय का फल मानना उचित नहीं है । कहने का तात्पर्य यह कि संस्कृत स्वाध्याय को स्वाध्याय (अध्ययन) का फल केवल उसी स्थिति में माना जा सकता है जब, उसका किसी यज्ञ में विनियोग दिखलाई पड़े । कहीं पर भी ऐसा निर्देश उपलब्ध नहीं होता कि अमुक यज्ञ को संस्कृतमन्त्रों के द्वारा सम्पन्न करे । ऐसी स्थिति में संस्कार को अध्ययन का फल नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार स्वाध्याय की प्राप्ति को भी इसलिए स्वाध्याय का फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं पुरुषार्थ नहीं है । जो वस्तु पुरुषार्थ-पुरुष की काम्य होती है, वह उसके प्रयत्नों का फल हो सकती है । स्वाध्याय ऐसी वस्तु नहीं है । केवल स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय नहीं किया जाता । उसका उद्देश्य कोई अन्य ही सकता है ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी का यह कथन हो सकता है कि अर्थज्ञान के अनन्तर ही यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति होती है, इसलिए उसके स्वतः पुरुषार्थ होने में सन्देह नहीं है । क्योंकि अर्थज्ञान बिना स्वाध्यायप्राप्ति के सम्भव नहीं है, इसलिए वह भी पुरुषार्थ है । ऐसी स्थिति में उसे स्वाध्याय का फल माना जाना चाहिए । पूर्वपक्षी इसका उत्तर देता हुआ कहता है कि जिस प्रकार विषनिहर्ण (विष को उतारने) आदि कार्यों में उपयुक्त होनेवाले मन्त्रों का स्वयं का कोई अर्थ नहीं होता (क्योंकि विष को उतारने के लिए उनके अर्थज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, केवल उनके उच्चारण से ही विष उतर जाता है), उसी प्रकार ‘ज्यो-
तिष्टोमेन यजेत्’ जैसे वाक्य भी, जो ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इस अध्ययनविधि के अंग के रूप में उपयुक्त होते हैं, अपना कोई अर्थ नहीं रखते । ऐसा इसलिए कि

मादिवाक्यानां न स्वार्थं प्रामाण्यमित्याह—

‘अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्’ इति

अध्ययनविधायकं तु वाक्यं स्वविहिताध्ययनस्यैव अङ्गमिति कृत्वा
स्वार्थप्रमाणमित्याह—

‘अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम्’ इति ।

अध्ययनविधिवाक्य के द्वारा विधान केवल स्वाध्याय का किया गया है, न कि उससे जायमान अर्थ का, इसीलिए ‘ज्योतिष्टोम आदि वाक्य भी स्वाध्याय की दृष्टि से उसके अंग होते हैं, अर्थ की दृष्टि से नहीं। फलतः अर्थ की आवश्यकता न होने के कारण इस प्रकार के वाक्यों का अपने अर्थ में प्रामाण्य ही नहीं है और इस कारण उनका स्वाध्याय भी अर्थज्ञान का हेतु न होने के कारण अध्ययन का दृष्टफल नहीं माना जा सकता। इसी बात को इस सूत्र में कहा गया है—

‘अन्य (वाक्य) का अङ्ग—(भूत वाक्य अपने) अर्थ का प्रमापक नहीं होता। (‘ज्योतिष्टोमादिवाक्य, स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययनविधायकवाक्य के अङ्ग हैं, इसलिए वे अपने अङ्गी के पूरकमात्र हैं, उनका स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं है)।

उत्तरपक्षी की ओर से यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ज्योतिष्टोमादि वाक्य अध्ययनवाक्य का अङ्ग होने से स्वतन्त्र अर्थ न रखने के कारण अपने वाक्य में प्रामाण्य नहीं रखते, उसी प्रकार प्रस्तुत अध्ययनविधायक वाक्य भी अपने द्वारा विहित अध्ययन का अङ्ग है। अर्थात् स्वविहित अध्ययन के ही अन्तर्गत आता है, इसलिए वह भी अपने अर्थ में प्रमाण न हो सकेगा। फलतः उसके द्वारा विहित किया गया अध्ययन भी प्रामाणिक न हो सकेगा। इस शङ्का का उत्तर पूर्वपक्षी इस सूत्र में देता है—

‘अध्ययनवाक्य अन्य (वाक्य) का अङ्ग नहीं है’) ।

(उत्तर का आशय यह है कि जब कोई वाक्य किसी दूसरे वाक्य का अङ्ग होता है, तभी उसका स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता, इसके विपरीत ‘स्वाध्यायवाक्य, अपने द्वारा विहित अध्ययन का अपना ही अङ्ग है। इसलिए उसका अर्थ में प्रामाण्य है)

ननु एवमदृष्टार्थत्वे कर्मकारकभूतस्वाध्यायगतफलाभावाद् 'अध्ये-
तव्यः' इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत इत्यत आह—

‘सक्तुवत् करणपरिणामः’ इति ।

‘सक्तुञ्जुहोति’ इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तुन् उद्दिश्य होमसं-
स्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र
विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः

इस पर सिद्धान्तपक्षी फिर भी कह सकता है कि अध्ययन का फल अदृष्ट है ।
यह मान लेने पर भी ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इस वाक्य में ‘स्वाध्याय’ शब्द का जो
कर्मकारक में प्रयोग किया गया है, उसके साथ किसी दृष्टफल के न होने के
कारण ‘अध्येतव्यः’ पद में प्रयुक्त कर्मवाचक तव्य प्रत्यय का विरोध उपस्थित हो
जाता है, अर्थात् कर्मवाचक तव्य प्रत्यय का विधान केवल उसी स्थिति में किया
जाता है, जब उसके कर्म के साथ उसका (क्रिया का) फल भी लगा हो, प्रकृत
में ‘स्वाध्याय’ में ऐसे किसी फल का दर्शन नहीं होने से तव्य प्रत्यय निरर्थक हो
जाएगा । पूर्वपक्षी निम्नलिखित सूत्र में इस शङ्का का उत्तर देता हुआ कहता है—

(‘स्वाध्यायः’ इस शब्द का) सक्तु के समान (करण कारक) में परिणाम
कर लेना चाहिए ।

(अर्थात्) ‘सक्तुञ्जुहोति’ (सक्तुओं को हवन करे) इस वाक्य में सक्तु
का प्रयोग कर्मकारक में किया गया है, इसलिए वह प्रधान है और इसी
लिए यद्यपि वाक्य के द्वारा सक्तुओं के उद्देश्य से होमसंस्कार का (होम के द्वारा
सक्तुओं का संस्कार करे इसका) विधान किया गया है, ऐसी प्रतीति होती है,
फिर भी, होम के द्वारा जिन सक्तुओं का संस्कार किया जायगा, वे जल
जाएंगे और उस स्थिति में उनका अन्य किसी यज्ञ में विनियोग न हो सकेगा,
इसलिए उनके कर्मप्राधान्य को छोड़कर उनका ‘सक्तुभिर्जुहोति’ (सक्तुओं के
द्वारा हवन करे) इस प्रकार करण कारक में परिणाम कर लिया जाता है और

कृतः । एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसंभवात् स्वाध्यायेन अधीयोत इति वाक्य-परिणामः कर्तव्यः ।

इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्पयितुं सिद्धान्तयति—

‘दृष्टे तु नादृष्टम्’ इति ।

किं तद् दृष्टफलमिति तदाह—

‘दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ’ इति ।

अक्षरप्राप्तेः परम्परया पुरुषार्थत्वमाह—

उसके कारण सक्तुओं के उत्तरवर्ती याग में विनियुक्त न होने का दोष निवृत्त हो जाता है । उसी प्रकार यहाँ भी व्याकरण की दृष्टि से संस्कार और प्राप्ति के स्वाध्याय का फल न होने पर कर्मकारकेभूत स्वाध्याय शब्द (स्वाध्यायः) को करण कारक (‘स्वाध्यायेन अधीयोत’—स्वाध्याय के द्वारा अध्ययन करे) में परिणत कर लिया जाएगा और कर्मवाचक ‘तव्य-प्रत्यय के निरर्थक न होने के कारण ‘स्वाध्याय’ के फल के साथ क्रिया का सम्बन्ध हो जाएगा । इस प्रकार स्वाध्याय का फल अदृष्ट है, यह स्पष्ट है ।

अब स्वाध्याय के दृष्टफल के रहते उसके अदृष्टफल की कल्पना नहीं करनी चाहिए, इस सिद्धान्तपक्ष को प्रस्तुत किया जा रहा है—

‘दृष्ट (फल) के रहते हुए अदृष्ट (फल) की कल्पना नहीं करनी चाहिए’ ।

(तात्पर्य यह है कि अदृष्ट फल की कल्पना केवल उसी स्थिति में की जानी चाहिए, जब कोई दृष्टफल न हो । प्रकृत में संस्कार और अर्थज्ञान रूप दृष्ट फल स्वाध्याय के हैं, इसलिए उसके अदृष्ट फल की कल्पना अनावश्यक है)

इस पर यदि कोई यह कहे कि वह दृष्टफल कौन सा है ? तो उसका उत्तर सूत्र के द्वारा इस प्रकार दिया जा सकता है—

‘प्राप्ति और संस्कार (स्वाध्याय के) दृष्टफल हैं, ।

(अर्थात् वेद के स्वाध्याय से प्रत्यक्ष रूप में, अक्षर की प्राप्ति और संस्कार होता है, इसलिए वे उसके दृष्टफल हैं) ।

अक्षरप्राप्ति (उपर्युक्त दोनों फलों में अन्यतम) ही परम्परा से पुरुषार्थ (पुरुष का परमकाम्य) हो जाती है, इस बात को निम्नलिखित सूत्र के द्वारा बताया जा रहा है—

‘प्राप्त्यर्थबोधः’ इति ।

न च भोजनादिवद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाद् विधिवैयर्थ्यमिति

‘(अक्षर) प्राप्ति के द्वारा अर्थबोध होता है’ ।

(भाव दह है कि अक्षर प्राप्ति के द्वारा वैदिकमन्त्रों का अर्थज्ञान होता है और चूँकि अज्ञार्थन पुरुषार्थ है, इसलिए उसकी कारणभूत अक्षरप्राप्ति भी परम्परा पुरुषार्थ मान ली जाती है)

यहाँ पूर्वपक्षी यह शङ्का कर सकता है कि जिस प्रकार भोजनादि के होने पर तृप्ति आदि होती हैं (अन्वय) और उसके न होने पर वह नहीं होती (व्यतिरेक) । इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा भोजन स्वयं सिद्ध होता है और और तृप्ति के लिए उसकी आवश्यकता नहीं समझी जाती उसी प्रकार प्रकृत में भी अध्ययन के होने पर अक्षरप्राप्ति होती है (अन्वय) और उसके न होने पर वह नहीं होती (व्यतिरेक) इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अध्ययन स्वयं सिद्ध है, फलतः अक्षरप्राप्ति के उद्देश्य से उसका विधान किया जाना निरर्थक है । सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि बात ऐसी नहीं है । वास्तव में अवघातादि के समान नियमादृष्ट के लिए विधि उपपन्न है, अर्थात् विधि अन्वय और व्यतिरेक के कारण स्वयं सिद्ध नहीं होता, अपितु उसका विधान करना होता है । इसी बात को इस सूत्र में इस प्रकार कहा गया है—

निष्पत्ति होने के कारण विधि उपपन्न है ।

उत्तर का आशय यह है कि जिस प्रकार निष्ठुषीकरण (चावल को भूसी से अलग करना) का सम्पादन नखविदलन अश्मकुहन (पत्थर के द्वारा कूटना) और अवहनन (मूसल के द्वारा घान की कुटाई) में से प्रत्येक के द्वारा किया जा सकता है, किन्तु ‘ब्रीहीन् अवहन्ति’ (घान कूटे) इस वाक्य में जो (कूटने के) नियम का विधान किया गया है, उससे यही प्रतीत होता है कि अन्य क्रियाओं के सम्पादन में चाहे नखविदलन आदि का भी प्रयोग आवश्यकतानुसार हो सकता है, किन्तु निष्ठुषीकरण में केवल अवघात (कुटाई) का ही प्रयोग होना चाहिए । इस निष्ठुषीकरण और अवघात का अन्वयव्यतिरेक के आधार पर कार्यकारणभाव सिद्ध है, अर्थात् अवघात के होने पर निष्ठुषीकरण होता है और न होने पर नहीं होता है, इस प्रकार अवघात स्वयं सिद्ध है, उसके विधान की कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी नियमादृष्ट के लिए उसका विधान किया

शङ्कनीयम् । अवघातादिवन्नियमादृष्टाय विध्युपपत्तेरित्याह—

‘विधिनिष्पत्त्याः’ इति ।

यत्कृतं संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य विनियोगादर्शनान्न संस्कार इति, तत्राह—

‘संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्’ इति ।

गया है । नियमादृष्ट से तात्पर्य उस नियम से है जो अदृष्ट के लिए किया गया हो । उदाहरण के लिए निष्ठुषीकरण का सम्पादन नखविदलन आदि से सम्भव होने पर भी उसके लिए जो अवघात का नियम विहित किया गया है, उसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि अवघात के द्वारा निष्ठुषीकरण के सम्पन्न होने पर किसी अदृष्टफल की प्राप्ति होती है । यही नियमादृष्ट है । जिस प्रकार इस नियमादृष्ट के लिए ही ‘ब्रीहीन् अवहन्ति’ में अवघात का विधान किया गया है, उसी प्रकार प्रकृति में भी समझना चाहिए । अक्षरप्राप्ति और अध्ययन में कार्यकारण का सम्बन्ध है । क्योंकि अध्ययन के होने पर अक्षरप्राप्ति होती है (अन्वय) और नहीं होने पर नहीं होती (व्यतिरेक), किन्तु अक्षरप्राप्ति के गुरुमुख से सुनकर उच्चारण करने और लिखे हुए को पढ़ने, इन दोनों साधनों के द्वारा हो सकने पर भी जो ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ के द्वारा यह विधान किया गया कि अक्षरप्राप्ति गुरुमुख से सुनकर ही की जानी चाहिए, उससे यही सिद्ध होता है कि गुरुमुख के द्वारा अक्षरप्राप्ति करने पर किसी नियमादृष्ट की प्राप्ति होती है, जो लिखे हुआ को पढ़ने से नहीं होती । विवेचन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त उदाहरणों में विधि का उद्देश्य नियमादृष्ट की प्राप्ति है । वह निरर्थक नहीं है ।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि संस्कृत (संस्कारयुक्त) स्वाध्याय का किसी यागादि में विनियोग नहीं पाया जाता, इसलिए संस्कार स्वाध्याय का दृष्टफल नहीं हो सकता (फल होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका कहीं विनियोग हो), उसका उत्तर इस सूत्र के माध्यम से दिया जा रहा है—

‘ऋतुविधि और अध्ययनविधि के उपादान से संस्कार की (स्वाध्याय के दृष्ट फल के रूप में) सिद्ध होती है’ ।

ऋतुविधयो हि विषयबोधमयेक्षमाणास्तबोधे स्वाध्यायं विनि-
युज्यते । अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्या अध्ययनसंस्कृतत्वं
स्वाध्यायस्य गमयति । अतः उभयोपादानात् तत्सिद्धिः ।

ननु संस्कारो नाम अदृष्टातिशयः । स च न स्वाध्यायगतः, तव्य-

ऋतुविधियां विषय के ज्ञान की अपेक्षा करती हुई उस (विषय) के ज्ञान में
स्वाध्याय का विनियोग करती हैं (अर्थात् 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'
इत्यादि वाक्यों में जो यजन का विधान किया गया है; उसकी पूर्णता यज्ञ के
सम्पादन की पद्धति पर निर्भर करती है और स्वयं सम्पादन पद्धति स्वाध्याय के
ऊपर अवलम्बित है । अर्थात् बिना अपने वेद के अध्ययन के यज्ञसम्पादन पद्धति
का ज्ञान नहीं हो सकता । इस प्रकार ऋतुविधियों के द्वारा स्वाध्याय का विनि-
योग विषयबोध में होता है, यह बात स्पष्ट है) । और अध्ययनविधि लिखित
पाठ आदि की व्यावृत्ति करके स्वाध्याय अध्ययन के द्वारा संस्कृत होता है; इस
तथ्य का बोध कराती है—(अर्थात् अक्षरप्राप्ति के गुरुमुख से वेद के अध्ययन
और लिखे हुए को पढ़ने इन दोनों साधनों के द्वारा सम्भव होने की स्थिति में
'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के द्वारा 'स्वाध्याय (अपना वेद) गुरुमुख से पढ़ना चाहिए
(अध्येतव्यः) यह जो नियम का विधान किया गया है; वही यह सिद्ध करता
है कि स्वाध्याय की प्राप्ति गुरुमुख से अध्ययन के द्वारा ही करनी चाहिए न कि
लिखित पाठादि के द्वारा । और जब स्वाध्याय की प्राप्ति अध्ययन के द्वारा होगी
तो उसका अध्ययन के द्वारा संस्कृत होना स्वयं सिद्ध है) । इसलिए उन दोनों—
ऋतुविधि और अध्ययनविधि के उपादान से संस्कार की सिद्धि हो जाती है,
(भाव यह है कि अध्ययन के द्वारा संस्कृत स्वाध्याय से ही यज्ञ सम्पन्न होता है,
न कि किसी अन्य विधि से । इस प्रकार इसमें ऋतुविधि और अध्ययन विधि—
इन दोनों का उपादान किया गया है । ऋतुविधि से स्वाध्याय की सिद्धि होती है
और अध्ययनविधि से उसके संस्कार की ।

इस पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि संस्कार का अर्थ है अदृष्टविशेष और वह
अदृष्टविशेष रूप संस्कार स्वाध्याय में स्थित (स्वाध्याय में रहनेवाला या उसका
धर्म) नहीं हो सकता, क्योंकि 'अध्येतव्यः' पद में स्थित 'तव्य' प्रत्यय अपने पद

प्रत्येन स्वपदोपात्तप्रकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तापूर्वाभिधानात् । ततः कथं स्वाध्यायस्य संस्कृतत्वम् इति तत्राह ।

‘तव्यः कर्मगादृष्टवाची’ इति ।

अत्र तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायितया कर्मकारकस्य स्वाध्यायस्य तव्यप्रत्ययं प्रति प्रकृत्यर्थाध्ययनादपि प्रत्यासन्नत्वात् स्वाध्यायगतमेव अपूर्वं तव्यप्रत्ययो वक्ति; अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमादिति भावः ।

(‘अध्येतव्य’ के पद ‘अधि’ + ‘इङ्’) से उपात्त प्रकृत्यर्थ—प्रकृति (धातु) + अर्थ = धात्वर्थ । रूप अध्ययन से युक्त अपूर्व का प्रतिपादन करता है—(अर्थात् इसमें कोई सन्देह नहीं कि ‘तव्य’ प्रत्यय अपूर्व (संस्कार) का अभिधान करता है, किन्तु वह अपूर्व स्वाध्याय में रहनेवाला न होकर अध्ययन में रहनेवाला है, क्योंकि ‘तव्य’ प्रत्यय जिस ‘अध्येतव्य’ का अङ्ग है, वह और अध्ययन दोनों एक ही प्रकृति (‘अधि’ + ‘इङ्’) से निष्पन्न होने के कारण, स्वाध्याय की अपेक्षा, एक दूसरे के अधिक निकट है । ऐसी स्थिति में ‘तव्य’ प्रत्यय स्वाध्यायगत अपूर्व का प्रतिपादन न कर अध्ययनगत अपूर्व का ही प्रतिपादन करेगा । ऐसी स्थिति में स्वाध्याय का संस्कारयुक्त होना कैसे सम्भव है ? सिद्धान्तपक्षी इसका उत्तर देता हुआ कहता है—

(‘तव्य’ प्रत्यय कर्मगत अदृष्ट का वाचक है)

भाव यह है कि ‘अध्येतव्य’ में स्थित ‘तव्य’ प्रत्यय कर्मवाचक है, इसलिए कर्मकारक में स्थित स्वाध्याय प्रकृत्यर्थरूप अध्ययन की अपेक्षा भी ‘तव्य’ प्रत्यय के अधिक निकट है (भाव यह है कि अध्ययन प्रकृत्यर्थ रूप होने के कारण ‘तव्य’ प्रत्यय के निकट अवश्य है, किन्तु वह कर्म का वाचक है और स्वाध्याय पद स्वयं कर्मकारक में स्थित है इसलिए वह अध्ययन की अपेक्षा तव्य प्रत्यय के अधिक निकट है) । इसलिए तव्य प्रत्यय कर्मकारक में स्थित स्वाध्याय के ही अपूर्व को अभिहित करता है । यद्यपि यह नियम है कि अपूर्व सदैव धात्वर्थ अर्थात् प्रकृत्यर्थ से उत्पन्न होता है और इस प्रकार वह अध्ययनगत ही होना चाहिए, किन्तु वह सदैव धात्वर्थ से सम्बद्ध रहे, ऐसा कोई नियम नहीं है इसलिए प्रकृत में, तव्य प्रत्यय अध्ययनगत अपूर्व का अभिधान न कर स्वाध्यायगत अपूर्व का ही अभिधान करता है । और पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है—जो अन्य

यच्चोक्तम् 'अन्याङ्गं नार्थप्रमाणकम्' इति, तदसत्, यतो मन्त्राणां स्वतन्त्रादृष्टशेषाणां तथात्वं युज्यते । इह तु स्वाध्यायाश्रितमदृष्टं; तस्य च स्वाध्यायगताक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोधे फले सति फलान्तर-कल्पनायोगात् प्रामाण्यस्य उपबृंहकमेव अदृष्टं, न तु प्रतिबन्धकमित्याह 'स्वतन्त्रादृष्टशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' इति

सक्तून्यायेन कर्मकारकप्राधान्ये परित्यक्ते स्वतन्त्रादृष्टमेव अत्रापि स्यादित्यत्राह—

का अङ्ग होता है, वह अपने अर्थ में प्रमाण नहीं होता और इस प्रकार वैदिक मन्त्र अध्ययनक्रिया का अङ्ग होने के कारण अपने अर्थ के प्रति प्रमाण नहीं है, यह कथन उचित नहीं है क्योंकि मन्त्रों के किसी स्वतन्त्र अदृष्ट के पूरक या अङ्ग होने की स्थिति में तो यह सम्भव था कि वे अपने अर्थ के प्रमाण न होते, किन्तु प्रकृत में तो अदृष्ट स्वाध्याय के ही आश्रित है, अर्थात् अदृष्ट मन्त्रों से स्वतन्त्र न रहकर मन्त्र समुदायरूप स्वाध्याय का अङ्ग है (ऐसी स्थिति में मन्त्रों का अदृष्ट का अङ्ग होना सम्भव नहीं है) और स्वाध्याय (मन्त्रसमुदाय) में स्थित अक्षरों की सामर्थ्य से सिद्ध होनेवाले अथज्ञान रूपदृष्ट फल के रहते उसके किसी अन्य (अदृष्ट) फल की कल्पना भी नहीं की जा सकती । इस प्रकार अध्ययन से उत्पन्न होनेवाला और स्वाध्याय पर आश्रित अदृष्ट मन्त्रगत स्वार्थप्रामाण्य का पोषक ही है, प्रतिबन्धक नहीं है । इसी बात को इस सूत्र में बताया गया है— 'मन्त्रों के स्वतन्त्र अदृष्ट का अङ्ग न होने के कारण उनका अपने अर्थ के प्रति प्रामाण्य प्रतिबद्ध नहीं होता' ।

यहाँ पूर्वपक्षी यह शङ्का प्रस्तुत कर सकता है कि जिस प्रकार 'सक्तूञ्जु-होति' इस वाक्य में कर्मकारकस्थ सक्तु का करणकारक में परिणमन कर लिया जाता है उसी प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में भी स्थित 'स्वाध्यायः' पद की कर्म कारक की प्रधानता का परित्याग कर, उसे करण कारक में परिणत कर लेने पर अध्ययन से उत्पन्न होनेवाला अदृष्ट स्वाध्याय पर आश्रित न होकर स्वतन्त्र होगा और उस स्थिति में मन्त्र अदृष्ट के अङ्ग होने के कारण अपने अर्थ के प्रति प्रमाण न रह सकेंगे । इस शङ्का का उत्तर इस सूत्र में दिया जा रहा है—

‘यथाश्रुतोपपत्तेनं सक्तुन्यायः’ इति ।

सक्तुषु गत्यभावात् श्रुतं परित्यज्य अश्रुतं कल्प्यतां नाम । नेह तद् युक्तं, प्रदर्शित्वादित्यर्थः ।

इत्थमध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वं प्रसाध्य अर्थावबोधपर्यन्ततां निराकर्तुं पूर्वपक्षयति ।

‘वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरु विधेः पुमर्थावसानात्’ इति ।

‘(प्रकृत में) यथाश्रुत (पद) के उपपन्न होने के कारण सक्तुन्याय नहीं हो सकता’ ।

‘सक्तुञ्जुहोति’ में कोई गति न होने के कारण श्रुत को छोड़कर अश्रुत की कल्पना की जा सकती है (भाव यह है कि वैदिकवाक्यों के यथाश्रुत पदों में परिवर्तन केवल उसी स्थिति में मान्य हो सकता है, जब वैसा किए बिना काम न चलता हो । ‘सक्तुञ्जुहोति’ में यही बात है । होम से संस्कृत सक्तुओं के राखरूप में परिणत हो जाने के कारण उनका किसी यागादि में विनियोग नहीं हो सकेगा, इसलिए उनको करणकारक में परिणत कर दिया जाता है), किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में वैसा करना उचित नहीं है । इसके कारण पहले बतलाए जा चुके हैं (भाव यह है कि श्रुत के स्थान पर अश्रुत की कल्पना करना वास्तव में एक दोष है, फिर भी यदि वैसा किए बिना कार्य न चल पा रहा हो तो वह क्षम्य हो सकता है । प्रकृत में ऐसी स्थिति नहीं है । ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ में ‘स्वाध्यायः’ इस श्रुत पद का जो अर्थ होता है, उससे वाक्य के तात्पर्य का पूर्ति हो जाती है । इसलिए उसके स्थान पर अश्रुत ‘स्वाध्यायेन’ की कल्पना उचित नहीं है) ।

इस प्रकार यहाँ तक यह सिद्ध करने के पश्चात् कि अध्ययनविधि का प्रयोजन दृष्ट है, अब उसकी अर्थज्ञान तक की व्याप्ति का निराकरण करने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जाता है—

‘विधि का पुरुषार्थ में अवसान होने के कारण अर्थ निर्णयविधि के द्वारा प्रयुक्त होता है, ऐसी कुमारिलभट्ट और प्रभाकर गुरु की मान्यता है’ ।

सर्वत्र विधेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वनियमाद् अत्रापि पुरुषार्थभूतं फल-
वदर्थनिश्चयमध्ययनविधिप्रयुक्तं भट्टगुरु मन्यते ।

ननु सकृदध्ययनाद् आवृत्तिसहिताद् वार्थनिश्चयो नोपलभ्यते इत्या-
शङ्क्य, तथा सति तत्सिद्धये सोऽध्ययनविधिरर्थनिश्चयहेतुं विचारं कल्प-
यिष्यति इत्याह—

सभी वैदिकवाक्यों में विधि का पर्यवसान किसी न किसी पुरुषार्थ में होता है, ऐसा नियम है । इसलिए यहाँ पर भी ('स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य में भी) पुरुषार्थरूप फलवान् अर्थनिश्चय अध्ययनविधि के द्वारा प्रयुक्त है, ऐसा कुमारिलभट्ट और प्रभाकर गुरु मानते हैं—कहने का तात्पर्य यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य के द्वारा जिस अध्ययन का विधान किया गया है, वह केवल अक्षरप्राप्ति तक ही सीमित नहीं रहता, जैसा कि सिद्धान्त-पक्षी को अभिप्रेत है, प्रत्युत उसका पर्यवसान वाक्य के अर्थज्ञान में होता है, जो पुरुषार्थ के रूप में सभी के द्वारा मान्य है तथा जिसकी प्रतीति अक्षरप्राप्ति के पश्चात् होती है । इस प्रकार इस मत के अनुसार अध्ययन की सम्पन्नता अक्षर-प्राप्ति में न होकर उसके पश्चात् होनेवाली अर्थप्रतीति में होती है ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी यह शङ्का करता है कि यदि अध्ययन का प्रयोजन अर्थज्ञान होता तो अध्ययन करने पर उसकी प्राप्ति अवश्य होती, किन्तु एक बार अथवा अनेक बार (आवृत्ति सहित) किए गये अध्ययन से भी अर्थ निश्चय नहीं होता, इससे यह स्पष्ट है कि अध्ययन का पर्यवसान अर्थज्ञान में नहीं होता । पूर्वपक्षी इस आशङ्का का समाधान करता हुआ कहता है कि वैसा होने, अर्थात् अध्ययन से अर्थज्ञान न होने की स्थिति में उस अर्थ की सिद्धि के लिए अध्ययन-विधि अर्थनिश्चय के कारणभूत (जिसके द्वारा वाक्य के अर्थ का निश्चय होता है,) उस विचार अर्थात् मीमांसाशास्त्र की कल्पना कर लेगी और उसके द्वारा अर्थ का निश्चय हो जाने से अध्ययन का पर्यवसान अर्थनिश्चय में ही होता है, यह स्पष्ट है । इसी बात को इस सूत्र में कहा गया है—

‘बह (अध्ययनविधि) विचार (मीमांसाशास्त्र) का आक्षेप (कल्पना) कर लेगी’ ।

‘स विचास्याक्षिपेत्’ इति ।

ननु स्वविधेयतदुपकारिणोरेव विधिः प्रयोजक इति सवत्र नियमः, तथा सति, अतादृशं कथमत्र अध्ययनविधिराक्षेप्यतीत्याह—

‘अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत्’ इति ।

‘ब्रौहीन् अवहन्ति’ इत्यत्र अवघातमात्रं विधेयं न तु तदावृत्तिः, तस्या अवघातवत्त्वात् । नापि सा विधेयौपकारिणी, अन्तरेण आवृत्ति सकृन्मु-

यह कहा जा सकता है कि विधिवाक्य अपने द्वारा विहित किये जाने वाले अर्थ और उसका उपकार करनेवाली वस्तु का ही प्रयोजक होता है, अर्थात् उपर्युक्त दोनों के उद्देश्य ही अध्येता को प्रेरित करता है, यह एक सार्वत्रिक नियम है । प्रकृत में विचार या मीमांसाशास्त्र वैसा नहीं है (अतादृश) अर्थात् वह न तो अध्ययनविधिवाक्य का विधेय है और न उसका उपकारक ही, ऐसी स्थिति में अध्ययनविधि मीमांसाशास्त्र की कल्पना कैसे कर सकेगी ? इसका समाधान पूर्वपक्षी इस सूत्र के द्वारा कर रहा है—

‘विधि अवघात की आवृत्ति (बार बार कूटने) के समान (स्वयं के द्वारा) विहित न किये जानेवाले (अविधेय) और उसका उपकार न करानेवाले का भी आक्षेप कर लेती है’ । भाव यह है ‘ब्रौहीन् अवहन्ति’ (ब्रौहियों का अवघात करे) इस विधिवाक्य में केवल अवघात का विधान किया है, क्योंकि केवल वही घात्वर्थ है (विधान केवल घात्वर्थ का होता है, यह नियम है । ‘अवघात’ शब्द अव + हिन् से निष्पन्न है, जिसका रूप ‘अवहन्ति’ भी है, इसलिए अवघात घात्वर्थ है) अवघात की आवृत्ति (बार बार किये जानेवाले अवघात) की नहीं, क्योंकि वह घात्वर्थ नहीं है । साथ ही, वह (अवघात की आवृत्ति) विहित किए जानेवाले अवघात का कोई उपकार भी नहीं करती, क्योंकि आवृत्ति के न होने पर भी एक बार के मूसल के आघात के द्वारा भी अवघात की सिद्धि हो जाती है । इस प्रकार आवृत्ति विधेय नहीं है । फिर भी वह विधि (अवघात), जिस प्रकार तण्डुलों की निष्पत्ति रूप फल की सिद्धि के लिए आवृत्ति का आक्षेप कर लेती है (क्योंकि बिना आवृत्ति तण्डुलों की निष्पत्ति

सलघातमात्रादवघातसिद्धेः तथापि तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्धये सः विधिरा-
वृत्तिं यद्वद् आक्षेपेन तद्वत् प्रकृतेऽपि अवगन्तव्यम् ।

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थविबोधानुदयेऽपि व्याकरणाद्यसहितवेदा-
ध्यायिनस्तदुदयसद्भावात् तं प्रति व्यर्थं विचारं विधिर्न कल्पयेदित्या-
शङ्क्य अर्थगतविरोधपरिहाराय अपेक्षित एव विचार इत्याह—

‘साङ्गाध्ययनात् तदभावे विचारोऽर्थविरोधापनुत्’ इति ।

नहीं हो सकती, इसलिए अवघातविधि अवघातावृत्ति का आक्षेप करती है) उसी
प्रकार प्रकृत में भी अध्ययनविधि विचार या मीमांसाशास्त्र का आक्षेप करती है,
क्योंकि उसके अभाव में अर्थ का निश्चय नहीं हो पाता, ऐसा समझना चाहिए ।

यह कहा जा सकता है कि जिन लोगों ने केवल वेद का अध्ययन किया है,
उन्हें अर्थज्ञान का उदय न हो, किन्तु व्याकरण आदि अंगों के साथ वेद का
अध्ययन करनेवाले को तो अर्थज्ञान का उदय होगा ही और उस स्थिति में
उसके प्रति विचार अर्थात् मीमांसाशास्त्र व्यर्थ (अनावश्यक) होगा । फलतः
विधि उसकी कल्पना न कर सकेगी । इस आशङ्का का समाधान करते हुए पूर्व-
पक्षी का कथन है कि अर्थगत विरोध का परिहार करने के लिए विचार (मीमांसा
शास्त्र) अपेक्षित ही है । यही बात सूत्र के माध्यम से व्यक्त की जा रही है—

‘अङ्गों सहित वेद के अध्ययन से, अर्थात् अर्थज्ञान के होने पर भी विचार
अर्थ के विरोधों का परिहार करनेवाला है’ ।

(भाव यह है कि अङ्गों के साथ वेद के अध्ययन से वेद का अर्थज्ञान हो
जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु इतने मात्र से मीमांसाशास्त्र की
आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती । वस्तुतः वैदिकमन्त्रों के सामान्य अर्थज्ञान
मात्र से काम नहीं चलता, जब तक कि वैदिकमन्त्रों के अर्थों में प्रतीयमान
विरोध का परिहार न हो जाए । इस विरोध का परिहार मीमांसाशास्त्र के द्वारा
ही सम्भव होता है, अतः उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है ।
ऐसी स्थिति में ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इस विधिवाक्य में भी अध्ययनविधि
मीमांसाशास्त्र की कल्पना कर लेगी)

सिद्धान्तयति—

‘प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः’ इति ।

यथा फलसूतस्य क्षीरादेहेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फल-
वदर्थविबोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षरप्राप्त्य-
वसानोऽवगन्तव्यः ।

ननु अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं फलवदर्थविबोधप्रयुक्तं चेत् तर्हि तद्-
बोधस्य मुख्यपुरुषार्थत्वाद् बोधान्त एव विधिः किं न स्यादित्यत आह—

अब सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं—

‘अक्षरप्राप्ति के गौ आदि के समान पुरुषार्थ होने के कारण (अध्ययनविधि),
अर्थात् अक्षरप्राप्ति तक ही है’ ।

जिस प्रकार फलरूप दूध आदि के कारण भूत गौ आदि की पुरुषों के द्वारा
अर्चना की जाती है (और इसी कारण गौ आदि पुरुषार्थ कहे जाते हैं) उसी
प्रकार फलसहित अर्थज्ञान के हेतु रूप अक्षरप्राप्ति के भी पुरुषार्थ होने के कारण
अध्ययनविधि का पर्यवसान अक्षरप्राप्ति तक ही, ऐसा समझना चाहिए—कहने
का तात्पर्य यह है कि लोक में गौ आदि को पुरुषार्थ माना जाता है, क्योंकि
दूध आदि की प्राप्ति के लिए पुरुष उनकी अर्थना (कामना) करते हैं (पुरुष +
अर्थ) ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी अक्षरप्राप्ति अर्थज्ञान का कारण है—उसके
कारण ही लोगों को अर्थज्ञान हो पाता है, इसलिये न केवल अर्थज्ञान ही, अपितु
अक्षरप्राप्ति भी पुरुषों के द्वारा अर्थनीय होने के कारण पुरुषार्थ है । फलतः
अध्ययनविधि का पर्यवसान भी अक्षरप्राप्ति में ही है, यह निश्चित है ।

पूर्वपक्षी को ओर से यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि जब फलयुक्त
अर्थज्ञान का बोध कराने के कारण अक्षरप्राप्ति पुरुषार्थ हो सकती है तो उसका
प्रयोज्य अर्थज्ञान तो उसकी (अक्षरप्राप्ति की) अपेक्षा मुख्य पुरुषार्थ होगा और
उस स्थिति में अध्ययनविधि का पर्यवसान अक्षरप्राप्ति में न माना जाकर अर्थ-
ज्ञान में ही क्यों न माना जाय (तात्पर्य यह कि अध्ययनविधि की सीमा अर्थ-
ज्ञान तक मानी जानी चाहिए) इसका समाधान सिद्धान्तपक्षी इस सूत्र में प्रस्तुत
करता है—

फलवद्बोधान्तत्वेऽध्ययनाकात्स्न्यम्' इति ।

बोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम् । तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन् बृहस्पतिसवादी अधिकारस्तस्य तद्वाक्यमात्राध्ययनं स्यात् न तु राजसूयादिवाक्याध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात् ।

स्वपक्षे तु नायं दोष इत्याह—

(अध्ययनविधि की सीमा को) फलसहित अर्थबोध तक मानने पर अध्ययन की असम्पूर्णता होगी ।

क्योंकि अर्थज्ञान का फल कर्मानुष्ठान है । ऐसी स्थिति में जिस ब्राह्मण का जिस बृहस्पतिसवादि में अधिकार है, वह उसी (यज्ञ) से सम्बद्ध वाक्यमात्र का अध्ययन करेगा न कि राजसूय आदि से सम्बद्ध वाक्यों का अध्ययन, क्योंकि उसमें प्रवृत्ति आदि के फल की प्राप्ति नहीं होती—तात्पर्य यह है कि अध्ययनविधि को यदि अर्थज्ञान तक विस्तृत किया जाएगा तो लोगों के द्वारा किये जानेवाले वैदिक अध्ययन में कमी आ जाएगी, क्योंकि जिस अर्थज्ञान को मुख्य पुरुषार्थ मानकर अध्ययनविधि को उसकी सीमा तक खींचा जा रहा है, स्वयं उसका भी फल यज्ञों का अनुष्ठान ही है । ऐसी स्थिति में इसका परिणाम यह होगा कि जिस व्यक्ति को जिस कर्म (यज्ञादि) को करने का अधिकार प्राप्त है, वह केवल उसीसे सम्बद्ध मन्त्रों का अध्ययन करेगा । क्योंकि उसका फल उसको मिलेगा, इसके विपरीत जिन कर्मों के अनुष्ठान में उसे अधिकार नहीं है, और फलस्वरूप है जिनमें प्रवृत्त होने का उसे फल भी नहीं मिलता उनसे सम्बद्ध मन्त्रों का अध्ययन वह नहीं करेगा । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति थोड़े से मन्त्रों का अध्ययन करेगा, समस्त वैदिक साहित्य का नहीं—इससे अध्ययन की असमग्रता की समस्या उपस्थित हो जाती है । किन्तु अध्ययनविधि को यदि केवल अक्षरप्राप्ति तक ही सीमित रखा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर समस्त वैदिक साहित्य का अध्ययन करेगा ।

सिद्धान्तपक्षी के पक्ष में यह दोष नहीं आता, इस तथ्य को प्रस्तुत सूत्र के माध्यम से व्यक्त किया जा रहा है—

‘कृत्स्नप्राप्तिर्जपाय’ इति ।

न च अबोधकत्वे अर्वाविबोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम्, प्रमाणस्य प्रमेयबोधकत्वस्वाभावात्, लौकिकाप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधि बोधकत्वदर्शनादित्याह—

‘लोकवल्नैजो बोधः’ इति ।

ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुल-

‘जप के निमित्त समस्त (वेद) की प्राप्ति होती है (भाव यह है कि ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इस वाक्य में वेद के जिस अध्ययन का विधान किया गया है, उसके जप के लिए उसे बार बार दुहराने के लिए समस्त वेद की प्राप्ति आवश्यक है, क्योंकि समस्त वेद की प्राप्ति के अभाव में उसका (समस्त का) पुनः पुनः पाठ सम्भव नहीं है ।

यहाँ पूर्वपक्षी के द्वारा इस प्रकार की शंका करना उचित न होगी कि अध्ययनविधि को अक्षरप्राप्ति तक सीमित कर देने पर उसके (विधि के) अर्थज्ञान का बोधक न होने के कारण अर्थ का ज्ञान ही सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रमाण अपने प्रमेय का बोधक होता है, यह उसका अपना स्वभाव है । उदाहरण के लिए लौकिक आप्तवाक्यों में बिना किसी विधि के ही बोधकता के दर्शन होते हैं— तात्पर्य यह कि जिस प्रकार लौकिक आप्तवाक्य बिना किसी विधि के अपने अर्थ का बोध करा देते हैं, उसी प्रकार वैदिक अक्षरप्राप्ति रूप प्रमाण भी अपने अर्थरूप प्रमेय का बोध स्वाभाविक रूप से करा देगा । इसी बात को प्रस्तुत सूत्र में कहा जा रहा है—

‘लोक के (आप्तवाक्यों) के समान (वैदिक वाक्यों का भी) बोध स्वाभाविक है’ ।

यहाँ पूर्वपक्षी की ओर से यह शंका प्रस्तुत की जा सकती है कि अर्थज्ञान को अध्ययनविधि का फल मान लेने पर अर्थज्ञान की इच्छा करनेवाले (बोधकाम) व्यक्ति को अद्दिष्ट कर उसका विधान किया जा सकता है और फलस्वरूप (अध्ययन का) अधिकारी सुलभ हो जाता है, अर्थात् जो भी व्यक्ति वेदार्थ को जानना

भोऽधिकारो स्यादित्याशङ्क्य, प्राप्तपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्ष-
ब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एव इति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य बोधस्य
काम्यत्वं दूषयति--

‘सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यमानाभानयोः’ इति ।

बोधस्य अग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् सन्ध्योपास-
नादिवत् पित्राद्युपदेशत एव भाने सिद्धत्वादेव सोऽर्थबोधो न काम्यः ।

चाहेगा वह अध्ययन का अधिकारी मान लिया जाएगा । इस प्रकार अध्ययनविधि
का पर्यवसान अक्षरप्राप्ति में न होकर अर्थज्ञान में ही होना चाहिए । सिद्धान्त-
पक्षी इस आशंका का परिहार करता हुआ कहता है कि अध्ययनविधि का फल
अक्षरप्राप्ति को माननेवाले पक्ष में भी अक्षरप्राप्ति की कामना करनेवाला
उपनयन संस्कार से सम्पन्न अष्टवर्षीय ब्राह्मण वेदाध्ययन के अधिकारी के रूप में
सुलभ ही रहेगा, इस प्रकार अधिकारी को सुलभता की दृष्टि से दोनों ही पक्ष
समान हैं । पूर्वपक्षी की आशंका का यह समाधान बहुत ही स्पष्ट है, इसलिए
उसकी उपेक्षा करके (उसका उल्लेख सूत्र में न करके) ‘अर्थज्ञान काम्य है इस
वात को प्रस्तुत सूत्र के माध्यम से (सिद्धान्तपक्षी) दूषित कर रहा है—

‘बोध्य अर्थात् वेदार्थ के अध्ययन के पूर्व उसके (ज्ञान के) ज्ञान और अज्ञान
(दोनों ही स्थितियों) में वह (ज्ञान) काम्य (कामना का विषय) नहीं है ।

बोध्य अर्थात् अग्निहोत्र आदि यज्ञरूप वेदार्थ के अध्ययन से पूर्व सन्ध्यो-
पासना आदि के समान पिता आदि के उपदेश से ही उसका ज्ञान होने पर सिद्ध
होने के कारण वह अर्थबोध काम्य नहीं हो सकता, ज्ञान न होने की स्थिति में भी
वह काम्य नहीं हो सकता, क्योंकि कामना ज्ञात विषय में ही होती है, ऐसा नियम
है—कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वेद का अध्ययन करने के पूर्व ही
पिता आदि के उपदेश से ही सन्व्यावन्दन आदि का ज्ञान व्यक्ति को हो जाता है,

अभने कामयितुमशक्यः, ज्ञाते एव विषये कामनानियमात् ।

ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो बुभुत्सा संभवति । यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्युपदेशात् अवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयाय पुनर्बोधकामना युक्तैव इत्याशङ्क्य, एवमपि अर्थबोधमुद्दिश्य अध्ययनविधानं न संभवति इत्याह—

‘उद्देशायोगात्’ इति ।

उसी प्रकार अग्निहोत्र आदि यज्ञ रूप वेदार्थ का ज्ञान भी अध्ययन से पूर्व ही हो जायगा—ऐसा मानने पर सिद्ध होने के कारण ज्ञान अर्थबोध कामना का विषय नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो ज्ञात होता है, उसके प्रति कामना नहीं होती । इसके विपरीत यदि कोई यह मानता हो कि वेदाध्ययन के पूर्व वेदार्थ का ज्ञान नहीं होता तो भी अर्थबोध काम्य नहीं हो सकता, क्योंकि जो वस्तु ज्ञात होती है, उसी के प्रति कामना होती है, यह एक सांसारिक नियम है । स्पष्ट है कि दोनों ही अवस्थाओं में अर्थज्ञान काम्य नहीं हो सकता । अतएव उसके काम्यत्व के आधार पर अधिकारी की सुलभता की जो बात पूर्वपक्षी ने कही थी, वह युक्तिसंगत नहीं है ।

इस पर पूर्वपक्षी की ओर से यह आशंका की जा सकती है कि किसी वस्तु का सामान्यज्ञान हो जाने पर ही उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा उत्पन्न होती है । अथवा पिता आदि के उपदेश से विशेष ज्ञान हो जाने पर भी उपदेश से प्राप्त होनेवाले ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय करने के लिए फिर से जानने की इच्छा का होना उचित है (इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में अर्थबोध काम्य है और उसकी कामना करनेवाला अधिकारी सुलभ हो सकेगा) इस आशंका का समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि ऐसा (विशेष जानने की इच्छा के उत्पन्न होने अथवा पुनर्बोध कामना के उत्पन्न) होने पर भी अर्थबोध को लक्ष्य करके अध्ययन का विधान करना संभव नहीं है । इसी बात को इस सूत्र में कहा गया है—

‘उद्देश्य के युक्त न होने के कारण (अर्थबोध के लिए अध्ययन का विधान उचित नहीं है)’ ।

अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुद्ध्या विशेषाकारेण उद्देशः
संभवति, अनन्तत्वात् । सामान्याकारेण उद्देशे सामान्यमेव विधिफलं
स्थात्, न तु ज्ञानविशेषः । ततो नोद्देशो युक्तः ।

ननु अर्थावबोधमुद्दिश्य उच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थं तात्पर्यं न
स्यादित्याशङ्क्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यति

अग्निहोत्र आदि जो विशेष ज्ञान हैं उनका एकबुद्धि के द्वारा विशेष रूप में
उद्देश्य सम्भव नहीं है, क्योंकि वे विशेष ज्ञान अनन्त हैं । यदि सामान्य रूप में
उसको उद्दिष्ट किया जाय तो विधिका फल सामान्य ही होगा, बकि ज्ञान विशेष ।
इसलिए उद्देश्य उचित नहीं हैं—सिद्धान्तपक्षी के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह
है कि पूर्वपक्षी ने अर्थबोध को उद्देश्य बनाने की जो बात कही है, वह केवल दो
रूपों में हो सकती है, विशेष रूप में और सामान्य रूपमें, इनमें विशेष रूप में उसे
उद्देश बनाने पर अर्थबोध के अश्वमेध, वाजपेय और ज्योतिष्टोम आदि अनेक
विशेष रूप होने के कारण विशेष रूप में उसका उद्देश सम्भव नहीं है, क्योंकि
'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' जैसे वाक्यों को देखने से प्रतीत होता है कि एक
वाक्य में केवल एक ही फल को उद्देश बनाया जा सकता है । अब यदि अर्थज्ञान
के विशेषरूपों को छोड़कर अर्थज्ञान सामान्य (अर्थज्ञानत्वविशिष्ट अर्थज्ञान) को
उद्देश बनाया जाय तो अव्ययनविधि का फल भी सामान्य ही होगा, ज्ञानविशेष
नहीं । तात्पर्य यह कि सामान्य ज्ञान को उद्देश्य बनाने पर सामान्यज्ञान ही फल
भी होगा, जबकि फल को ज्ञानविशेष होना चाहिए । स्पष्ट है कि दोनों अवस्थाओं
में अर्थबोध का उद्देश होना उचित नहीं है ।

यहाँ पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि अर्थबोध को उद्देश्य बनाकर वेद का
उच्चारण न मानने की अवस्था में वेद का तात्पर्य अपने अर्थ में न हो सकेगा,
(क्योंकि तात्पर्य का ज्ञान अर्थबोध के पश्चात् होता है । इसलिए अर्थबोध को
उद्देश्य मानना ही होगा) । सिद्धान्तपक्षी इसका उत्तर देता हुआ कहता है कि

इत्याह—

वेद के तात्पर्य का ज्ञान तो उपक्रम आदि लिङ्गों^१ के द्वारा होता है, जो केवल शब्दबल से ही सिद्ध हो जाता है (अतः उसके लिए अर्थबोध को उद्देश बनाकर उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं है)। निम्न सूत्र में यही बात कही गई है—

१. 'वेदान्तसार' में उपक्रम सहित सप्तलिङ्गों को वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य को एकमात्र ब्रह्म में अवधारित करनेवाले 'श्रवण' का अङ्ग माना गया है। ये लिङ्ग निम्नलिखित हैं—

उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति 'लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि'। इनके विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

- (i) उपक्रम किसी प्रकरण में प्रतिपादनीय पदार्थ का उसके प्रारम्भ में वर्णन करना 'उपक्रम' कहलाता है। जैसे छन्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय में प्रतिपादनीय ब्रह्मतत्त्व का 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूप में अध्याय के प्रारम्भ में प्रतिपादन।
- (ii) उपसंहार किसी प्रकरण में प्रतिपादनीय पदार्थ का उसके अन्त में वर्णन करना 'उपसंहार' है। जैसे, उक्त ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय के प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व का उक्त अध्याय के अन्त से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के रूप में वर्णन।
- (iii) अभ्यास—प्रकरण के प्रतिपाद्य का उसके बीच-बीच में प्रतिपादन करते रहने का नाम 'अभ्यास' है। जैसे उपर्युक्त प्रकरण में ही अद्वितीय तत्त्व का 'तत्त्वमसि' के रूप में पुनः पुनः वर्णन।
- (iv) अपूर्वता—प्रकरण के प्रतिपाद्य तत्त्व को अन्य प्रमाणों से 'पुष्ट करना' 'अपूर्वता' है। जैसे पूर्वोक्तप्रकरण में 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में 'तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि वाक्यों का कथन।
- (v) फल प्रकरण के प्रतिपाद्य अथवा अभ्यास के यत्र तत्र श्रूयमाण प्रयोजन को 'फल' कहते हैं। जैसे, उसी प्रकरण में 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' आदि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित परिणाम।
- (vi) अर्थवाद—प्रकरण के प्रतिपाद्य की यत्र तत्र की प्रशंसा 'अर्थवाद' है। जैसे, उसी प्रकरण में 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनश्रुतं श्रुतं भवति' आदि वाक्य।
- (vii) उपपत्ति—प्रकरण के प्रतिपाद्य पदार्थ की सिद्धि के लिए यत्र तत्र सुनाई पड़नेवाली युक्तियों को 'उपपत्ति' कहते हैं। जैसे, उपर्युक्त प्रकरण में 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन.....' आदि वाक्यों में प्रस्तुत युक्तियाँ।

‘तात्पर्यं शब्दात्’ इति ।

तर्हि अर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्याद् इति चेद्, न;
पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वाद् इत्याह—

‘उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके’ इति ।

ननु अव्ययनविधेर्बोधान्तत्वाभावे विचारशास्त्रं न प्रवर्तते, प्रयोज-
कामावादित्याशङ्क्याह—

‘विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते’ इति ।

ऋतुबोधविधयः साङ्गवेदाध्ययनाद् आपातप्रतिपन्ना विरोधपरिहारेण
प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय ऋतु-

‘तात्पर्यं (का ज्ञान) शब्द (के बल) से (सिद्ध होता है)’ ।

यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में लोक में अर्थज्ञान के उद्देश्य से
किया जानेवाला शब्दोच्चारण व्यर्थ हो जाएगा । उसका उत्तर यह है कि बात
ऐसी नहीं है । पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले दोष रूप प्रतिबन्ध के
निमित्त उक्त शब्दोच्चारण की उपयोगिता है, इसलिए वह निरर्थक नहीं है ।
जैसा कि निम्न सूत्र में कहा गया है—

‘(अर्थज्ञान के) उद्देश्य से किया गया उच्चारण लोक में दोष को नष्ट
करनेवाला होता है’ ।

पूर्वपक्षी की ओर से यहाँ यह कहा जा सकता है कि अव्ययनविधि की
सीमा को अर्थबोध तक न मानने की स्थिति में मीमांशाशास्त्र (विचार-शास्त्र)
की प्रवृत्ति ही न हो सकेगी, क्योंकि उस स्थिति में उसका प्रयोजक नहीं होगा ।
सिद्धान्तपक्षी की ओर से इस आशंका का उत्तर निम्न सूत्र में दिया जा रहा है—
‘उत्तरवर्ती (ऋतुबोधविधि एवं श्रवणविधि) विधियों से प्रयुक्त होकर विचार
शास्त्र उपपन्न हो जाता है ।

(अर्थात्) अङ्गोसहित वेद के अव्ययन से आपाततः प्राप्त हुई ऋतुबो-
धविधियाँ विरोध के परिहार से प्रतिष्ठित निर्णयज्ञान के अभाव में ऋतु का अनु-
ष्ठान कराने में अशक्त होती हुई उन विरोधों के निर्णय के लिए ऋतु के विचार
को प्रयुक्त करती हैं, अर्थात् उसका प्रयोजक बन जाती हैं (भाव यह है कि
साङ्गवेद का अव्ययन करने से व्यक्ति को जो थोड़ा बहुत ऋतुविधियों का ज्ञान
प्राप्त हो जाता है, उनके द्वारा वह यज्ञों का अनुष्ठान कराने में वह तब तक

विचारं प्रयोजयन्ति । श्रवणविधिस्तु साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते ।
 एवं च सति, श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनां च विधेयो-
 पकारिप्रयोजकत्वम् इत्युपपद्यतेतराम् । अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु
 तद्विधेः क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ

समर्थ नहीं हो पाता जब तक कि उसे मीमांसाशास्त्र 'विचारशास्त्र' का
 ज्ञान नहीं हो जाता । इसका कारण यह है कि यज्ञविधान के मार्ग में आनेवाले
 विरोधों के परिहार के उपाय केवल मीमांसाशास्त्र में ही बताए गए हैं । इस
 प्रकार क्रतुविधियाँ मीमांसाशास्त्र की प्रयोजक बनती हैं) । (इसके विपरीत
 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' रूप) श्रवणविधि
 तो साक्षात् रूप में ही ब्रह्मविचार का विधान करती है । ऐसी स्थिति में श्रवण-
 विधि का अपने विधेय अर्थात् विधान किए जानेवाले ब्रह्मविचार का प्रयोजक-
 होना और क्रतुविधियों का अपने विधेय अर्थात् ज्योतिष्टोमादि यज्ञानुष्ठान के
 उपकारक मीमांसाशास्त्र का प्रयोजक होना उपपन्न है (तात्पर्य यह है कि श्रवण-
 विधि बिना किसी की सहायता के ही अपने विधेय ब्रह्मविचार का विधान कर
 देती है इसलिए वह अपने विधेय का प्रयोजक है इसके विपरीत क्रतुविधियाँ
 बिना मीमांसाशास्त्र की सहायता के क्रत्वनुष्ठान में असमर्थ हैं, इसलिए वे अपने
 विधेय क्रत्वनुष्ठान का प्रयोजक न होकर क्रत्वनुष्ठान के उपकारक मीमांसाशास्त्र
 के उपकारक हैं) । अध्ययनविधि मीमांसाशास्त्र का प्रयोजक है, इस सिद्धान्त
 को मानने के पक्ष में तो अध्ययनविधि क्रतु के माध्यम से स्वर्ग को सिद्ध करने-
 वाली होती है, इसलिए उसे उसकी सिद्धि के अन्त तक माना जा सकता है और
 इस प्रकार अध्ययनविधि ही क्रत्वनुष्ठान का भी प्रयोजक हो जायगी और फल-
 स्वरूप क्रतुविधियाँ के व्यर्थ हो जाने की समस्या आ उपस्थित होगी (भाव यह

ऋतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत ।

ननु अध्ययनविधस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत् प्रयुक्तौ विचार-
स्यापि तत्त्वस्येत, नान्यथेति चेत् ? ऋतुविचारस्य त्रैवर्णिकमात्रेऽपि-
नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य ? तत्राद्योऽस्मन्पक्षेऽपि सम इत्याह-
'अतो नित्यः ऋतुविचारस्त्रैवर्णिमात्रस्य' इति ।

यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् ऋतवस्त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः ।
द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह—

‘ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव’ इति ।

है कि यदि अध्ययनविधि को सीमांसाशास्त्र का प्रयोजक माना जायेगा तो उस स्थिति में उस विधि की सीमा को स्वर्गसिद्धि तक माना जा सकता है क्योंकि वह स्वयं तो नहीं किन्तु ऋतु के द्वारा स्वर्ग की सिद्धि करा देती है । किन्तु ऐसा मानने पर वह विधि ऋतुनुष्ठान का भी प्रयोजक हो जाती है क्योंकि वह अध्ययन-विधि और स्वर्गसिद्धि का अन्तरालवर्ती है, और फलस्वरूप वे ऋतुविधियाँ व्यर्थ हो जायगी, जिनका प्रयोजन ही ऋतुनुष्ठान है । स्पष्ट है कि अध्ययनविधि को सीमांसाशास्त्र का प्रयोजक नहीं माना जा सकता) ।

पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि चूँकि अध्ययनविधि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के प्रति नित्य है इसलिए उसको विचार का प्रयोजक मानने पर विचार भी उक्त तीनों वर्णों के प्रति नित्य होगा, अन्यथा नहीं । सिद्धान्तपक्षी इसका समाधान करता हुआ प्रश्न करता है कि तीनों वर्णों के प्रति आय ऋतु-विचार को नित्य सिद्ध करना चाहते हैं, या ब्रह्म विचार को ? इनमें से प्रथम अर्थात् ऋतुविचार का तीनों वर्णों के प्रति नित्य होना हमारे पक्ष में भी समान है । यही बात निम्न सूत्र में कही गई है—

‘इसलिए ऋतुविचार तीनों वर्णों के प्रति नित्य है’ ।

क्योंकि ऋतु का अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय अर्थात् हानि होती है, इस-लिए ऋतु तीनों वर्णों के प्रति नित्य है ।

द्वितीय अर्थात् ब्रह्मविचार के तीनों वर्णों के प्रति नित्य होने की बात हमें इष्ट नहीं है, जैसा कि इस सूत्र में कहा गया है—

‘ब्रह्मविचार तो केवल परमहंस अर्थात् हंस के समान संसार से सर्वथा अनासक्त व्यक्ति के लिए (नित्य है)’ ।

नित्य इत्यनुबन्धः ।

ननु उक्तरीत्या अध्ययनस्य अक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात् ।

सैवम्, वाक्यान्तरेण तद्विधानात्—‘ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’ इति तद्विधिः । तत्र निष्कारणशब्देन अध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते ।

अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क एवमुदाजहार—‘अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च—

उपर्युक्त सूत्र में उससे पूर्व के सूत्र का ‘नित्य’ शब्द सूत्रक्रम से स्वतः जुड़ जाएगा ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि उपर्युक्त रीति से अध्ययनविधि की सीमा को केवल अक्षरग्रहण तक मानने पर अर्थज्ञान अविहित रह जाएगा अर्थात् उसका विधान न हो सकेगा । सिद्धान्तपक्षी का उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है । दूसरे वाक्य के द्वारा उसका विधान किया गया है । ‘ब्राह्मणे निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’ (ब्राह्मण को अहेतुक धर्म एवं छह अङ्गों सहित वेद का अध्ययन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए) यह अर्थज्ञान का विधि-वाक्य है अर्थात् इसके ‘ज्ञेय’ शब्द के द्वारा अर्थज्ञान का विधान किया गया है । इस वाक्य में प्रयुक्त ‘निष्कारण’ शब्द के द्वारा अध्ययन और ज्ञान दोनों के काम्यत्व का निवारण कर दिया गया है ।

अर्थज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा

अर्थज्ञान में पुरुष को प्रवृत्त करनेवाले अन्य शाखाओं के दो वचनों को निरुक्त के रचयिता यास्क ने इस प्रकार उदाहृत किया है—

‘इसके अतिरिक्त ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा भी होती है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

यद्गृहोत्तमविज्ञातं निगदेनैव शब्धते ।

अनग्नाविधि शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

(निरुक्त १।१८) इति ।

अस्मिन् मन्त्रद्वये 'योऽर्थज्ञः' इत्यनेनाधेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते ।
इतरेणार्धत्रयेण ज्ञातराहित्यं निन्द्यते । यो वेदार्थं जानाति सोऽयमिह लोके
सकलं श्रेयः प्राप्नोति । तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं
प्राप्नोति । तदेतत् ऐहियामुष्मिकं ज्ञानफलं तैत्तिरीया मन्त्रोदाहरणेन
तदीयतात्पर्याभिधायिब्राह्मणेन च स्पष्टीचक्रुः—'तदेषाभ्युक्ता—ये अर्वा-
ङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति,

'जो वेद को पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता, वह निश्चय ही भार को
ढोनेवाला निरा ठंड है । जो व्यक्ति वेद के अर्थ को जानता है, वह समस्त
कल्याण को प्राप्त करता है तथा ज्ञान से अपने समस्त पापों को नष्ट कर स्वर्ग
को प्राप्त करता है' । बिना अर्थ को समझे हुए ही ग्रहण किया गया (कण्ठ-
स्थीकृत) जो (वेदमन्त्र) केवल पाठमात्र से उच्चरित होता है, वह उसी प्रकार
कभी प्रकाशित नहीं होता जैसे बिना अग्नि के सूखा ईंधन) ।'

इन दोनों मन्त्रों में 'योऽर्थज्ञ' इस आधे मन्त्र के द्वारा वेद के अर्थज्ञान की
प्रशंसा की गई है तथा अन्य तीन श्लोकार्धों अर्थात् डेढ़ श्लोक के द्वारा ज्ञान के
अभाव की निन्दा की गई है । जो वेदार्थ को जानता है, वह इस लोक में समस्त
श्रेय को प्राप्त करता है, तथा उस ज्ञान के द्वारा समस्त पापों का क्षय हो जाने
पर वह मरने के पश्चात् स्वर्ग को प्राप्त होता है । ज्ञान के इस ऐहिक (इस लोक
में प्राप्त होनेवाले) तथा आमुष्मिक (परलोक में मिलने वाले) फल को तैत्ति-
रीय शाखा का अध्ययन करनेवालों ने मन्त्र के उदाहरण और उसके तात्पर्य
को व्यक्त करनेवाले ब्राह्मण के द्वारा स्पष्ट किया है—'इसलिए यह (ऋचा)
कही गई है—'जो लोग वेद के अर्वाचीन अथवा प्राचीन विद्वान् की निन्दा करते
हैं, वे आदित्य की ही निन्दा करते हैं, वे सभी द्वितीय अग्नि और तृतीय हंस

सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति । 'यावतीर्व देवतास्ताः सर्वा वेद-
विदि ब्राह्मणे वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्यायो दिवे-दिवे नमस्कु-
र्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २।१५) इति ।

वेदं विद्वान् अर्थाभिज्ञः पुरुषः स च द्विविधः । अर्वाचीनकाले
समुत्पन्नः चतुर्दशविद्यास्थानकुशलः कश्चिदुपाध्यायः पुरातनकाले
समुत्पन्नो व्यासादिश्च । तमेतमुभयविधं विद्वांसं विद्यामदधनमद-
कुलमदोषेताः पण्डितं मन्या ये पुरुषा अभितो विद्यादिषु दूषयन्ति
ते सर्वेऽपि आदित्यमेव प्रथमं दूषयन्ति, आदित्यापेक्षया द्वितीयमग्निं
दूषयन्ति, तदुभयापेक्षया तृतीयं हंसं दूषयन्ति । हन्ति सदा गच्छतीति
हंसो वायुः ।

(वायु) की निन्दा करते हैं । (मन्त्र) 'जितने भी देवता हैं, वे सभी वेदों के
विद्वान् ब्राह्मण में निवास करते हैं । इसलिए वेदज्ञ ब्राह्मणों को प्रतिदिन नम-
स्कार करना चाहिए, उनके साथ अश्लील बातचीत न करनी चाहिए । (ऐसा
करने वाला व्यक्ति) सब देवताओं को प्रसन्न करता है' (ब्राह्मण) ।

(उपर्युक्त मन्त्र के) 'वेदं विद्वान्' (वेद को जाननेवाले से तात्पर्य है, वेद
के अर्थ को जाननेवाले पुरुष से और वे दो प्रकार के होते हैं—अर्वाचीनकाल
में उत्पन्न चौदह विद्यास्थानों में निपुण कोई उपाध्याय (वेदों का अभ्यापन
करनेवाला) तथा प्राचीनकाल में उत्पन्न व्यास आदि । इन दोनों ही प्रकार के
'वेद के' विद्वानों को विद्यामद, धनमद और कुलमद से युक्त, अपने आपको
पण्डित माननेवाले जो लोग विद्यादि के सम्बन्ध में दूषित करते हैं, वे सभी-सबसे
पहले आदित्य को ही दूषित करते हैं । आदित्य की अपेक्षा द्वितीय (देवताओं
में सूर्य के बाद द्वितीय महत्त्वपूर्ण देवता) अग्नि को दूषित करते हैं और उन
दोनों की अपेक्षा तृतीय (तीसरे महत्त्वपूर्ण देवता) वायु को दूषित करते हैं ।
'हंस' शब्द का 'हन्ति सदा गच्छति' (जो सदैव चलता रहता है) इस व्युत्पत्ति
के अनुसार वायु है ।

अग्न्यादिरूपत्वं च वेदविद आम्नातम्—‘अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति’ (तै० आ० २।१५) इति । न केवलमेतद्देवतात्रयं किंतु सर्वा अपि देवता वेदविदि वसन्ति । तस्मात् ब्राह्मणान् वेदविदो दृष्ट्वा स्मृत्वा वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यात्, न तु तस्मिन् विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत् । एवं सति तत्तन्मन्त्रार्थभूताः सर्वा अपि देवता वेदार्थविदा स्मर्यमाणतया तदीयहृदयेऽवस्थिता अयं नमस्कर्ता तोषयति । न चैतदध्ययनस्यैव फलमिति शङ्कनीयं ‘विद्वासम्’ (तै० आ० २।१५) इत्याम्नातत्वात् । अन्यथा वेदमधीयानमित्याम्नायेत । तस्मात् सर्वदेवताबुद्ध्या प्राणिभिः पूज्यस्य वेदार्थविदो लोकद्वयेऽपि श्रेयःप्राप्तिरुपपद्यते ।

वेद को जाननेवाले का अग्नि आदि देवताओं के रूप का होना (स्वयं वेद में) बतलाया गया है—‘अग्नि, वायु और आदित्य के सायुज्य को प्राप्त करता है’ । न केवल यही तीन देवता, अपितु सभी देवता वेदज्ञ में निवास करते हैं । इसलिए वेदज्ञ ब्राह्मणों को देखकर अथवा उनका स्मरण कर प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिए और उनमें विद्यमान दोष का भी कथन नहीं करना चाहिए । ऐसा होने पर उन-उन मन्त्रों के अर्थ से पवित्र तथा वेदज्ञ के द्वारा स्मरण किए जाने के कारण, उसके हृदय में अवस्थित समस्त देवताओं को यह नमस्कार करने-वाला प्रसन्न करता है । यहाँ यह आशङ्का नहीं की जानी चाहिए कि यह (उपर्युक्त) फल केवल अध्ययन का ही है (न कि वेदार्थ को जानने का), क्योंकि (वेद के उपयुक्त मन्त्र में) ‘विद्वासम्’ शब्द का उल्लेख किया गया है (जिसका अर्थ है ‘अर्थज्ञ’) । यदि वेदार्थज्ञान का यह फल न होता तो उक्त मन्त्र में ‘विद्वासम्’ के स्थान पर ‘वेदमधीयानम्’ (वेद को पढ़ने वाला) ऐसा उल्लेख होता । इसलिए समस्त देवताओं की भावना से (यह सर्वदेव स्वरूप है, ऐसा समझकर) सभी प्राणियों के द्वारा वेदार्थ की दोनों ही लोकों (इह लोके तथा परलोक) में श्रेयःप्राप्ति उपपन्न है, अर्थात् वेदार्थज्ञ इस लोक में तो धन और सम्मान को प्राप्त करता ही है, मरने के पश्चात् वह स्वर्ग को भी प्राप्त करता है ।

यस्तु वेदमधीत्यापि अर्थं न विजानाति सोऽयं पुमान् भारमेव हरति धारयति । स्थाणुरिति दृष्टान्तः । छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्दे-
नोच्यते । स च यथेन्द्रनार्थमेवोपयुज्यते न तु पुष्पफलार्थं, तथा केवल-
पाठकस्य ब्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव न ह्यनुष्ठानं स्वर्गादिफलसिद्धि-
र्वास्ति । किल इत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते । लोकेऽपि पाठकस्य यावती
धनादिपूजा ततोऽप्यधिका विदुषि दृश्यते ।

किंच यद्वेदवाक्यमाचार्यात् गृहीतमर्थज्ञानरहितं पाठरूपेणैव पुनः

जो पुरुष वेद का अध्ययन करने के पश्चात् भी उसके अर्थ को नहीं जानता, वह बोल को ढोता है । स्थाणु अर्थात् ठूँठ उसका दृष्टान्त है । कटी (तथा टूटी) शाखाओंवाले तथा सूखे वृक्षमूल (पेड़ के तने) को स्थाणु नाम से पुकारा जाता है । और वह जिस प्रकार केवल ईंधन के लिए (जलाने के लिए) ही उपयोग में लाया जाता है न कि पुष्प और फल के लिए, उसी प्रकार वेद का केवल पाठ करनेवाले व्यक्ति को केवल इतना फल प्राप्त होता है कि वह ब्रात्य^१ नहीं होता । इसके अतिरिक्त उसे न तो यज्ञ के अनुष्ठान का फल मिलता है । (क्योंकि बिना अर्थ जाने केवल पाठमात्र से अनुष्ठान का सम्पादन नहीं किया जा सकता और न स्वर्गादि फलों की सिद्धि होती है । मन्त्र में प्रयुक्त 'किल' इस पद से (उपर्युक्त बात) की लोकप्रसिद्धि व्यक्त होती है । लोक में भी केवल पाठ करनेवाले के धन आदि के द्वारा जितनी पूजा होती है, विद्वान् (अर्थज्ञ) की उससे अधिक देखी जाती है ।

इसके अतिरिक्त आचार्य से ग्रहण किया गया (आचार्य के उच्चारण को सुनकर कण्ठस्थ किया गया), जो वेदवाक्य अर्थज्ञान से रहित और केवल पाठ

१. ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण का वह व्यक्ति, जिसका निर्धारित वय को भीतर उपनयन संस्कार न हुआ हो, ब्रात्य कहलाता है-- 'सावित्रीपतियो ब्रात्यः' ।

पुनरुच्चार्यते, तत् कदाचिदपि न ज्वलति स्वार्थं न प्रकाशयति । यथाग्नि-
रहितप्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत् । तथा सति तस्य
वाक्यस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात् । अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्त्यनेनेति
वेदशब्दनिर्वचनम् । तथा चोक्तम्—

‘प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता’ ॥ इति

अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः । किंचात्र यास्केन
(निरुक्त १।१६) काचिदन्याप्यगुदाहुता—

‘उत त्वः पश्यन्त ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ० स० १०।७१।४) इति ॥

रूप में पुनः पुनः उच्चरित किया जाता है वह कभी भी जलता नहीं, अर्थात्
अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता । ठीक वैसे ही जैसे अग्निरहित प्रदेश में
फेंकी गयी सूखी लकड़ी प्रज्वलित नहीं होती । वैसा होने पर (अर्थात् अपने
अर्थ का प्रकाशक न होने पर) उस वाक्य का वेदत्व ही मुख्य^१ रूप से नहीं बन
सकेगा, अर्थात् उसे वेद का वाक्य न कहा जा सकेगा, क्योंकि ‘जिसके द्वारा
पुरुषार्थ के अलौकिक उपाय को जाना जाय वह वेद है—यह वेद शब्द का
निर्वचन है । जैसा कि कहा भी है—

‘जिस उपाय का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण के द्वारा नहीं हो पाता,
उसे लोग वेद के द्वारा जान लेते हैं, यही वेद का वेदत्व है’ ।

इसीलिए मुख्य वेदत्व की सिद्धि के लिए उसके अर्थ को जानना ही
चाहिए । इसके अतिरिक्त यास्क ने (इस सन्दर्भ में) किसी दूसरी ऋचा को भी
उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है—

‘कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और कोई इसे सुनता हुआ भी
नहीं सुनता । वह वाणी किसी के लिए अपने शरीर को उद्घाटित कर देती है,
जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रोंवाली और कामना करनेवाली पत्नी अपने पति के
लिए अपने शरीर को उद्घाटित कर देती है’ ।

१. वेदत्व गीण और मुख्य दो रूपों में हो सकता है । वेदमन्त्र के अर्थरहित
पाठ में गीण वेदत्व है, जबकि उसके सार्थक पाठ में मुख्य वेदत्व ।

तत्र पूर्वार्धस्य तात्पर्यं स एव दर्शयति—‘अप्येकः पश्यन्नपि न पश्यति चाचम् । अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । इति अविद्वांसमाहार्धम्’ इति । अस्यायमर्थः—यः पुमानर्थं न वेत्ति तं प्रति पूर्वार्धेन मन्त्रो ब्रूते । एकः पुरुषः पाठमात्रपर्यवसितो वेदरूपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति । एकवचनबहुवचनदिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात् । ‘वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति’ ‘आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति’ (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादौ

इस ऋचा के पूर्वार्ध का तात्पर्य वही (यास्क ही इस प्रकार) दिखाते हैं—‘कोई एक व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता’ यह ऋचा का अर्द्ध (पूर्वार्द्ध) (अर्थ को न जाननेवाले) को कहता है’ । इसका भाव यह है जो व्यक्ति (वेद के) अर्थ को नहीं जानता, उसके प्रति मन्त्र ‘अपने’ पूर्वार्द्ध के द्वारा कहता है, अर्थात् मन्त्र के पूर्वार्द्ध में उस व्यक्ति का वर्णन किया गया है, जो अर्थ को नहीं जानता । एक व्यक्ति जो पाठ तक ही सीमित है, वेदरूप वाणी को देखता हुआ भी अच्छी तरह से नहीं देखता । क्योंकि एकवचन और बहुवचन आदि के ज्ञान के अभाव में वह (वेद मन्त्रों के) पाठ की शुद्धि भी नहीं कर सकता । उदाहरण के लिए ‘वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति’ (अपने भाग के द्वारा वायु के ही निकट जाता है और वह ‘वायु’ इसे ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है) ‘आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयन्ति’ (अपने भाग के द्वारा आदित्यों के ही निकट जाता है और वे ‘आदित्य’ ही इसे ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं) इत्यादि ‘वैदिकमन्त्रों’ में अव्युत्पन्न व्यक्ति पाठ का निश्चय कर सकेगा ? (भाव यह है कि तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ‘वायुम्’ ‘सः,’ ‘गमयति’ आदि एकवचनान्त शब्दों का और उत्तरार्द्ध में ‘आदित्यान्’ ‘ते’ और ‘गमयन्ति’ जैसे बहुवचनान्त शब्दों का प्रयोग किया गया है । वे व्युत्पन्न हैं वे तो इसी प्रकार का पाठ करेंगे, किन्तु जो अव्युत्पन्न हैं, ‘वायुम्’ इस एक वचनान्त शब्द के साथ ‘ते’ और ‘गमयन्ति’ जैसे बहुवचनान्त शब्दों का पाठ कर सकते हैं और ‘आदित्यान्’ इस बहुवचन के साथ ‘सः’ और ‘गमयति’ जैसे एकवचनान्त शब्दों का, क्योंकि उन्हें एकवचन और बहुवचन का ज्ञान ही नहीं होता ।

अव्युत्पन्नः कथं पाठं निश्चिनुयात् ? अन्यः कश्चिदर्थज्ञानाय व्याकरणाद्य-
ज्ञानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं न सम्यक् शृणोति ।
'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तै० सं०
२।३।१२।१) इत्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते । मीमां-
सायां तु न्यायेन दातुरिति निर्णीतम् (जै० सू० ३।४।३०) । तस्मादुभय
विधमप्यविद्वांसं प्रति एवमाहेति ।

अन्य कोई व्यक्ति 'वेद के' अर्थ को जानने के लिए व्याकरण आदि (वेद के)
अंगों को सुनता हुआ भी मीमांसाशास्त्र के (ज्ञान के) अभाव के कारण इस
वेदरूपा वाणी को अच्छी तरह नहीं सुनता । उदाहरण के लिए 'यावतोऽश्वान्
प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे
उतनी ही संख्या में वरुण देवता के चतुष्कपालों का निर्वपण करे) तैत्तिरीय
संहिता के इस वाक्य में व्याकरण मात्र के द्वारा अश्व को ग्रहण करनेवाले को
इष्टि करनी है, ऐसी प्रतीति होती है, किन्तु मीमांसा में न्याय से इस बात का
निर्णय किया गया है कि इष्टि दाता को करनी है । इस प्रकार (मन्त्र का
पूर्वार्द्ध) दोनों ही प्रकार के अविद्वां के विषय में कहता है ।

१. 'यावतोऽश्वान्' इस वाक्य में विहित इष्टि प्रतिग्रहीता को करनी चाहिए
या यजमान (दाता) को ? इस प्रश्न का समाधान आचार्य जैमिनि ने सूत्र
'सा लिङ्गादात्विजे स्यात्' लिङ्ग के कारण वह (इष्टि) आत्विक् (यजमान)
को करनी चाहिए, के द्वारा किया है । भाव यह है कि उक्त वाक्य के
उपक्रम वाक्य 'प्रजापतिर्वरुणायास्त्वं मनयत्'..... 'स पर्यदीर्यत्, स एतं वारुणं
चतुष्कपालमपश्यात्, तं निरवपत् ततो वै सः वरुणपाशादमुच्यत' में जो
प्रजापति का अश्वदान से रोगी होना तथा इष्टि करने से रोगमुक्त हो जाने
का उल्लेख किया गया है, वह दाता के इष्टि की कर्त्तव्यता में लिङ्ग है,
अर्थात् यदि इष्टि प्रतिग्रहीता का कर्त्तव्य होती तो उसे रुग्ण कहा जाना
चाहिए था, किन्तु रुग्ण कहा गया है । दाता को और वही इष्टि करने से
रोगमुक्त हुआ है । अतः इष्टि उसी का कर्त्तव्य है । इस प्रकार 'सञ्जाता-
सञ्जात विरोधिनोरसञ्जात विरोधी बलवान्' । (विरोधयुक्त और विरोध-
रहित से विरोधरहित बलवान् होता है) इस न्याय के आधार पर विरोध
रहित उपक्रम वाक्य के प्रामाण्य पर इष्टि दाता का कर्त्तव्य है, यह निर्णय
किया गया ।

तृतीयपादतात्पर्यं दर्शयति—‘अध्यैकस्मै तन्वं विसस्त्रे’ इति स्वमात्मानं विवृणुते ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा’ इति । अपिशब्दपर्याय उतोशब्दः । स च पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्यायात्र प्रयुक्तो निपातानामनेकार्थत्वात् । यः पुमान् व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं च शोधयितुं प्रवृत्तस्तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तन्तुं विसस्त्रे । स्वमित्यादिकं पदव्याख्यानम् । ज्ञानमित्यादिकं तात्पर्यव्याख्यानम् । वेदार्थप्रकाशनक्षमं सम्यग्ज्ञानमनया तृतीयपादरूपया वाचा मन्त्र आहेति ।

चतुर्थपादतात्पर्यं दर्शयति ‘उपमोत्तमया वाचा । जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु । सुवासाः कल्याणवासाः । कामयमाना ऋतु-

(उक्त ऋचा) के तृतीय पाद के तात्पर्य को (यास्क) दिखाते हैं—किसी एक के लिए (वाणी) अपने शरीर को उद्घाटित कर देती है, अर्थात् अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है (इस प्रकार मन्त्र ने) इस वाणी के द्वारा ज्ञान अर्थात् अर्थ के प्रकाशन को कहा है । मन्त्र में प्रयुक्त ‘उतो’ शब्द ‘अपि’ का पर्याय है, किन्तु वह यहाँ पर पूर्वोक्त अनभिज्ञ (अविद्वान्) से विलक्षणता दिखाने के लिए प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि निपातों के अनेक अर्थ होते हैं (भाव यह है कि ‘उतो’ शब्द निपात है । यद्यपि उसका प्रचलित अर्थ ‘अपि’ है, किन्तु यहाँ पर वैलक्षण्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) जो पुरुष व्याकरण आदि अङ्गों के द्वारा वेद के शब्दार्थ तथा मीमांसा के द्वारा उसके तात्पर्य का शोधन करने के लिए प्रवृत्त हुआ है, उस एक व्यक्ति के लिए वेद अपने शरीर को उद्घाटित कर देता है । उपर्युक्त मन्त्र के यास्ककृत व्याख्यान में प्रयुक्त ‘स्वम्’ आदि शब्द पदव्याख्यान हैं (अर्थात् मूलशब्द के पर्यायवाची शब्द हैं) और ‘ज्ञानम्’ आदि शब्द तात्पर्यव्याख्यान रूप हैं (अर्थात् इन शब्दों के द्वारा पूरी पंक्ति के तात्पर्य को स्पष्ट किया गया है) । मन्त्र ने तृतीय पादरूप (अपनी) इस वाणी के द्वारा वेदार्थ को प्रकाशित करने में समर्थ सम्यग् ज्ञान को बताया है ।

(मन्त्र के) चतुर्थ पाद के तात्पर्य को ‘यास्क’ दिखाते हैं—तृतीय पाद की उपमा से युक्त उत्तम अर्थात् चतुर्थ पादरूप वाणी के द्वारा । पति की कामना करती हुई सुन्दर वस्त्रोंवाली पत्नी जिस प्रकार ऋतुकाल में । ‘सुवासाः’ का अर्थ कल्याणकारी वस्त्रोंवाली । ऋतुकाल में कामना करती हुई (उस समय)

कालेषु । यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा' इति । अस्याय-
मर्थः—उत्तमया चतुर्थपादरूपया वाचा तृतीयपादार्थस्योपमा उच्यते ।
उशतोत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति । यद्यपि अह्नि गृहकृत्यवेलायां
सतिनवासास्तथापि संभोगकालेषु कल्याणवासा भवति । तत्र हेतुः ।
कामयमाना ऋतुकालेष्विति । यथा स पतिरेनां जायां साकल्येनादर-
युक्तः पश्यति किंच तयोक्तमर्थं हितबुद्ध्या शृणोति, तथायं चतुर्दश-
विद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं
च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितबुद्ध्या स्वीकरोति । सेयमुक्ता वेदार्थाभिज्ञस्य
प्रशंसेति ।

जैसे वह (पति) इसे (पत्नी को) देखता है (और उसकी बात को) वह
सुनता है । यह अर्थज्ञ की प्रशंसा है । इसका अर्थ यह है—उत्तम अर्थात् चतुर्थपाद
रूप वाणी के द्वारा तृतीयपाद के अर्थ की उपमा कही गई है । मन्त्र के 'उशती'
इस शब्द का व्याख्यान 'कामयमाना' यह है । यद्यपि (पत्नी) दिन में घर के
कार्य के समय गन्दे वस्त्रोंवाली होती है तथापि संभोग के समय वह कमनीय
वस्त्रोंवाली हो जाती है । उसमें कारण है । (वह यह कि) ऋतुकाल में वह
(संभोग के निमित्त) पति की कामनावाली होती है । उस समय अर्थात्
संभोगकाल में, जिस प्रकार वह पति इस (कामना करने वाली) पत्नी को
पूर्णतया आदरयुक्त ही देखता है और उसके द्वारा कही गई बात को हित की
भावना से सुनता है, उसी प्रकार चौदह विद्यास्थानों के अनुशीलन से युक्त यह
पुरुष भी वेदार्थ के रहस्य को अच्छी प्रकार से देखता है तथा वेद के द्वारा कहे
गए उनके धर्म और ब्रह्मरूप अर्थ को हित की भावना से स्वीकार कर लेता है ।
(इस प्रकार ऋचा के उत्तरार्द्ध में) यह वेद के अर्थज्ञ की प्रशंसा की गई है ।

पुनरप्युगन्तरं यास्कः (निरुक्त १।२०) उदाजहार—‘तस्योत्तर
भूयसे निर्वचनाय—

‘उत त्वं सख्ये स्थिरपोतमाहुर्ननं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् ॥

(ऋ० सं० १०।७।१।५) इति

अयमर्थः । पूर्वोदाहृतायाः ‘उत त्वः पश्यन्’ इत्यादिकाया ऋचोऽ-
नन्तरमेवास्नाता काचित् ऋक् तस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय
संपद्यते । तमर्थमतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति । कथमिति चेत् ? तदु-
च्यते । अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये
स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः, अभिज्ञाः, कथयन्ति । ‘सखि-

यास्क ने (इसके पश्चात्) पुनः एक दूसरी ऋचा को उदाहरण के रूप में
प्रस्तुत किया है—‘इसके बाद की ऋचा उस उपर्युक्त विषय के साथ और
अधिक स्पष्टीकरण के लिए है, किसी एक को मित्रता में स्थिरता के साथ पान
किया हुआ कहते हैं । स्पर्द्धाओं में (लोग) इसके पास तक नहीं पहुँचते । जो
फल तथा फूल से रहित वाणी को सुनता है (अर्थात् बिना अर्थ को जाने
हुए ही वाणी को सुनता है) वह माया (अथवा दूध न देनेवाली गाय) के
साथ विचरण करता है’ ।

(इस ऋचा का) यह भाव है । पहले उदाहृत ‘उत त्वः पश्यन्’ इत्यादि
ऋचा के पश्चात् ही (यास्क के द्वारा) पढ़ी गई यह ऋचा उस अर्थात् पूर्वोक्त
मन्त्र के अर्थ का और अधिक स्पष्टीकरण निर्वचन करने के लिए है, अर्थात्
उस (पूर्वोक्त) अर्थ का (पहली ऋचा की अपेक्षा) अधिक प्रतिपादन करने में
समर्थ है । यदि कोई यह कहे कि कैसे ? तो उसके उत्तर के रूप में यह कहा जा
सकता है । चतुर्दश विद्यास्थानों में कुशल किसी एक पुरुष को वेदरूपी वाणी की
मित्रता में स्थित होकर स्थिरता के साथ वेद के द्वारा कहे गए अर्थरूप अमृत
के पान से युक्त कहते हैं, अर्थात् (वेदविषय के) जानकार कहते हैं । ‘सखिविदं

विदं सखायम्' (तै० आ० २।१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम् । यद्वा स्वर्गलोके देवानां सख्ये स्थित्वातिशयेन पीतामृतमाहुः । वाचाम् इना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः । तेषु मध्येऽप्येनं वेदार्थकुशलं चोदयितुं न हिन्वन्ति, न केऽपि प्राप्नुवन्ति । तेन सह विवदितुमशमर्थत्वात् । यस्तु अन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति । पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम् । उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम् । यथा लोके पुष्पं फलस्योत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानमनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः । यथा च फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः

सखायम्' इस मन्त्र में वेद के मित्ररूप का उदाहरण दिया जा चुका है । अथवा (उसे) स्वर्गलोक में देवताओं की मित्रता में स्थित होकर (वहाँ स्थित) अमृत का अत्यधिक पान कर चुका हुआ कहते हैं । मन्त्र में प्रयुक्त 'वाजिनः' शब्द का अर्थ है वाणी के स्वामी (वाचाम्) 'वाणीनाम् इनाः' (ईश्वराः स्वामिनः) अथवा सभा में प्रगल्भ जन । उनके मध्य में भी (कोई) वेदार्थ में कुशल इस व्यक्ति का सामना करने में समर्थ नहीं होते, उस तक नहीं पहुँच पाते, क्योंकि उनके साथ विवाद करने में (वे लोग) असमर्थ होते हैं । और जो दूसरा (वेद के) पाठमात्र में तत्पर रहता है, वह फल और फूलरहित वाणी को केवल सुने हुए होता है । (प्रस्तुत सन्दर्भ में) पुष्प का अर्थ है पूर्वकाण्ड अर्थात् मीमांसाशास्त्र में कहे गए धर्म का ज्ञान और फल का अर्थ है उत्तरकाण्ड अर्थात् वेदान्तशास्त्र (उत्तरमीमांसा) में कहे गए ब्रह्म का ज्ञान । जिस प्रकार लोक में पुष्प फल का उत्पादक होता है उसी प्रकार (वेद में) वेद का अनुवचन (अध्ययन) आदि धर्मों का ज्ञान अनुष्ठान (यज्ञानुष्ठान) के द्वारा फलरूप ब्रह्मज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करता है । क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' ब्राह्मण लोग इस (ब्रह्म) को वेद के अव्ययन, यज्ञ, दान, तप और अनशन (उपवास) के द्वारा जानना चाहते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से यही सिद्ध होता है । और जिस प्रकार (लोक में) फलतृप्ति का कारण होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान कृतकृत्यत्व (कृतार्थता) का कारण है ।

‘यत्पूर्णनिन्दैकबोधस्तद् ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति (परमहंसोपनिषद् ४) इति श्रुतेः । तादृशपुष्पफलरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति । नवप्रसूतिका क्षीरदोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वात् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते । पाठमात्रपरं प्रति वेदरूपा वाग्धर्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः । अत एवासौ माया कपटरूपा ऐन्द्रजालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वाद् । तथा मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः । इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रयश्चित्त्वात् यच्च स्तूयते तद्विधीयते इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युगन्तव्यः ।

जैसा कि ‘यत् पूर्णनिन्दैकबोधस्तद् ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति’ (‘जो एक मात्र पूर्णनिन्द और बोधरूप ब्रह्म है वह मैं हूँ’ यह अनुभव कर आत्मा कृतकृत्य हो जाती है) इस श्रुति में कहा गया है । उस प्रकार फल और फूल से रहित वेद का पाठ करनेवाला वह पुरुष अधेनु अर्थात् माया के साथ विचरण करता है । नई व्याई हुई तथा पर्याप्तमात्रा में दूध देनेवाली गाय प्रीति अर्थात् प्रमन्नता का कारण होने के कारण ‘धिनोति’ (अर्थात् प्रसन्न करती है) इस व्युत्पत्ति के आधार पर धेनु कहलाती है । वेद का केवल पाठ करनेवाले व्यक्ति के प्रति वेदरूप वाणी अपने धर्मज्ञान रूप दुग्ध का दोहन नहीं करती, इसलिए वेदरूप वाक् उसके लिए अधेनु है । इसीलिए वह (अर्थात् दुग्ध का दोहन न करगेवाली वेदरूपावाक्) माया अर्थात् कपटरूप है, क्योंकि (उस रूप में) वह जादूगर के द्वारा निर्मित (कपट) गौ के समान है । भाव यह है कि उस माया (रूप वेद-वाणी) के साथ विचरण करता हुआ यह (पुरुष) परम पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं हो पाता । इस प्रकार यास्क के द्वारा ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा के उदाहरण (वैदिक मन्त्र) की विस्तार से व्याख्या किए जाने के ‘जिसकी प्रशंसा की जाती है, उसका विधान किया जाता है, इस न्याय के अनुसार अध्ययन के समान अर्थज्ञान को भी विधि समझना चाहिए (भाव यह है कि जिस प्रकार अध्ययन का विधान किया जाता है, उसी प्रकार अर्थज्ञान का भी विधान होना चाहिए, क्योंकि यास्क ने उसकी प्रशंसा की है) ।

किञ्च नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टिफलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समानमेवाप्ता-
यते—‘यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नाद एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति
य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद’ (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति ।
अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते । अनेन न्यायेन सर्वेष्वपि
ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः ।

ननु ‘विद्याप्रशंसा’ (जै० सू० १।२।१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसा-
रूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत्, अस्तु नाम । विद्यमानेनापि फलेन

इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण के नक्षत्रेष्टिकाण्ड में प्रत्येक इष्टि (यज्ञ)
का फलवाक्य यज्ञ और उसके ज्ञान दोनों के लिए समान ही पढ़ा गया है—‘यथा
ह वा अग्निर्देवानामन्नाद एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते
य उ चैनदेवं वेद’ (जिस प्रकार अग्नि देवताओं में अन्नाद अर्थात् अन्न का भक्षण
करनेवाला है, उसी प्रकार मनुष्यों में वह (अन्नाद) होता है, जो इस हवि को
यंजन करता है और जो इसको इस प्रकार जानता है) । इसलिए याग के
समान फल के लिए याग के ज्ञान का भी विधान किया जाता है (कहने का
तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणवाक्यों में फल के लिए जिस प्रकार याग का विधान
किया जाता है, उसी प्रकार याग के ज्ञान का विधान भी फल के लिये किया
जाता है) । इस न्याय के अनुसार सभी ब्राह्मणवाक्यों में ज्ञानविधियाँ हैं, ऐसा
समझना चाहिए ।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि जैमिनि ने अपने ‘विद्याप्रशंसा’ इस सूत्र में
ज्ञान के फलों का प्रशंसारूप होना सूत्रित किया है (और इस आधार पर ज्ञान
का विधान नहीं माना जाना चाहिए, अर्थज्ञान की प्रशंसा करनेवाले वाक्य केवल

प्रशंसितुं शक्यत्वात् । दर्शयागस्य पूर्णमासयागस्य च अतिपाते सति प्रायश्चित्तरूपां वैश्वानरेष्ट विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः क्रियते 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तै० सं २।२।५।४) इति । एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोज्यपरत्वतः ।

यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता ॥

इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शदर्शौ यथा तथा ।

न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा ॥

(बृ० उ० वा० १२७-१२८) इति ।

स्तावक होते हैं, विधायक नहीं) तो इसका उत्तर है कि सूत्रित करने दीजिए, इससे हमारी कोई हानि नहीं होती । (न केवल अविद्यमान फलों के द्वारा ही अपितु) विद्यमान फल के द्वारा भी प्रशंसा की जा सकती है । (उदाहरणार्थ) दर्शयाग और पूर्णमासयाग के समय का अतिक्रमण हो जाने पर उसके प्रायश्चित्तरूप वैश्वानर इष्टि का विधान करने के लिए विद्यमान ही स्वर्गरूप फल के द्वारा स्तुति की गई है—'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिए दर्श और पूर्णमास याग किए जाते हैं) । और आचार्यों ने ब्रह्मज्ञान के फलवाक्य के तात्पर्य को उसके अपने अर्थ में भी प्रदर्शित करने के लिए इस ('सुवर्गाय' वाक्य) को उदाहृत किया है—

‘अन्यपर होने अर्थात् ब्रह्मज्ञान की प्रशंसा करने के कारण (ब्रह्मज्ञान का) फलवाक्य अर्थवाद (प्रशंसा) वाक्य है, यह तथ्य मैं स्वीकार करता हूँ । किन्तु यथार्थ वस्तु का अभिधायक होने के कारण यह (अर्थवाद वाक्य) अभूत अर्थवाद नहीं है (अपितु भूतार्थवाद है) । जिस प्रकार 'इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शदर्शौ' (सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते) यह वाक्य (स्वर्ग रूप भूतफल की प्रशंसा करने के कारण) भूतार्थवाद है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का फलवाक्य भी भूतार्थवाद है । और जिस प्रकार 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिसकी जुहू पर्णमयी होती है, वह पापपूर्ण श्लोक को नहीं सुनता) यह वाक्य पर्णमयी जुहू का हवन करने से पाप श्लोक की अप्राप्ति रूप अभूत वस्तु का वर्णन करने के कारण) अभूतार्थवाद है, उसी प्रकार अभूतार्थवाद

न च वेदनमात्रेण फलसिद्धावनुष्ठानवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, फल-
भूयस्त्वेन परिहृतत्वात् । उदाहृतं चात्र जैमिनिसूत्रम्—

ब्रह्मज्ञान का प्रकृत फलवाक्य नहीं^१ ।

यह शङ्का की जा सकती है कि वेदार्थज्ञान से फल की सिद्धि हो जाने पर अनुष्ठान व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा (फल की प्राप्ति के लिए ही अनुष्ठान किए जाते हैं, यदि उसकी प्राप्ति अर्थज्ञान से हो जाती है तो अनुष्ठान करने कौन जायेगा ?) सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि बात ऐसी नहीं है । अनुष्ठान में ज्ञान मात्र की अपेक्षा फल अधिक मिलता है, इसलिए उसके व्यर्थ होने की शङ्का का परिहार हो जाता है, जैसा कि किया भी गया है । इस सन्दर्भ में जैमिनि के निम्न सूत्र को भी उदाहृत किया है—

१. अर्थवाद मुख्यतः तीन प्रकार का होता है, जैसा कि कहा गया है—

‘विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।

भूतार्थवादः स्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः’ ॥

(‘अर्थसंग्रह पृ० १६१ पर उद्धृत)

अर्थात् अर्थवाद तीन प्रकार का होता है—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद । इनमें से गुणवाद उस अर्थवाद को कहते हैं, जो प्रमाणान्तर का विरोध होने पर होता है । जैसे ‘आदित्यो यूषः’ में यूष में आदित्य का अभेद प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है । इसलिए लक्षणा के द्वारा इसका अर्थ ‘आदित्य के समान उज्ज्वलत्व रूप गुण वाला यूष’ लिया जाता है । अन्य प्रमाणों से अवगत अर्थ का बोध करानेवाले अर्थवाद को गुणवाद कहते हैं । जैसे ‘अग्निर्हिमस्य भेषजम्’ में अग्नि के हिम का विरोधी होने की प्रत्यक्ष प्रमाण से पह ले ही विदित है । अन्य प्रमाणों के विरोध और उनकी प्राप्ति से रहित अर्थ का बोध करानेवाले अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं । जैसे ‘यथा इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्’ में न तो वृत्र के प्रति वज्र के उद्यमन का निषेध ही किसी अन्य प्रमाण से होता है और न वज्र के उद्यमन का बोध हो । इसलिए यहाँ पर भूतार्थवाद है ।

‘फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्’ (जै० सू० १।२।१७) इति ।

एतच्चास्माभिः ‘तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजेत य उ चैनमेवं वेद’ (तै० सं० ५।३।१२।२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम् ।

छान्दोग्यश्च केवलादनुष्ठानात् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमामनन्ति—‘तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ (छा० उ० १।१।१०) इति । यद्यप्यज्ञावबद्धोपास्तिरत्र विद्याशब्देन विवक्षिता तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः ।

कुतस्तवैतावती वेदने भक्तिरिति चेत् कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः । प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता । निन्दा तु न क्वाप्युपलभामहे । किंतु कर्मजन्यमपूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यम-

‘फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिणामतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्’

इस सूत्र की व्याख्या हमने ‘तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजेत य उ चैनमेवं वेद’ इस उदाहरण के द्वारा की है ।

‘छान्दोग्य उपनिषद्’ के अध्येता कहते हैं कि केवल अनुष्ठान करने की अपेक्षा ज्ञान (विद्या) सहित अनुष्ठान करने पर फल की अधिकता होती है—‘तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ इसलिए (यज्ञ) करते हैं जो इस (वेद) को इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता । विद्या और अविद्या अनेक प्रकार की हैं । विद्या (ज्ञान), श्रद्धा और उपनिषद् (अध्यात्मज्ञान) के साथ जो भी कर्म (व्यक्ति) करता है, वही अधिक बलवान् हो जाता है । यद्यपि यहाँ (उपर्युक्त छान्दोग्यवाक्य में) प्रयुक्त विद्या शब्द से अङ्गों (व्याकरणादि) सहित वेद की उपासना विवक्षित है, तथापि यह न्याय सभी विद्याओं के लिए एक समान है (भाव यह है कि चाहे वेदज्ञान हो या अन्य कोई ज्ञान, उसके साथ अनुष्ठान से केवल अनुष्ठान की अपेक्षा अधिक मिलता है) ।

यदि कोई यह कहे कि अर्थज्ञान के प्रति तुम्हें इतनी भक्ति क्यों है ? तो उससे यह पूछा जा सकता है कि उसको (पूर्वपक्षी को) अर्थज्ञान में द्वेष क्यों है ? अर्थज्ञान की प्रशंसा तो हमने प्रर्याप्त मात्रा में दिखा दी है, पर उसकी निन्दा मुझे कहीं उपलब्ध नहीं हुई, किन्तु कर्म से उत्पन्न होनेवाला अपूर्व जिस

प्यपूर्वं गच्छति । तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति—‘तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च’ (बृ० उ० ४।४।२) इति । तस्मात् अध्ययन-वदर्थज्ञानस्यापि विहितत्वादर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः ।

विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावात् विषया दयो निरूप्यन्ते । व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः । तदर्थज्ञानं प्रयोजनम् । व्याख्यानव्याख्येयभावः संबन्धः । ज्ञानार्थी चाधिकारी । यद्यप्ये-

प्रकारं मृत्यु के पश्चात् जीव (प्राणों) के साथ चला जाता है, उसी प्रकार विद्या अर्थात् वेद ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला अपूर्व भी जीव के साथ चला जाता है, जैसा कि वाजसनेयी शाखा के अध्वेता कहते हैं—‘तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च’ उस (अपूर्व) का आरम्भ विद्या और कर्म करते हैं तथा पूर्वप्रज्ञा भी (करती है) । इसलिए अध्ययन के समान अर्थज्ञान भी विहित है और फलतः अर्थज्ञान के लिए वेद की व्याख्या करनी चाहिए ।

अनुबन्धचतुष्टय

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी (इस अनुबन्धचतुष्टय के ज्ञान के अभाव में श्रोता की ‘अध्ययन आदि कार्य में’ प्रवृत्ति नहीं होती’, इसलिए अब विषय आदि का निरूपण किया जा रहा है । वेद व्याख्यान का विषय है व्याख्येय (जिसकी व्याख्या की जानी है, ऐसा) वेद, वेदके अर्थ का ज्ञान उसका प्रयोजन है, दोनों (व्याख्यान और व्याख्येय) में व्याख्यान व्याख्येयभाव सम्बन्ध है तथा ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति उसका अधिकारी है । यद्यपि

१. अनुबन्धचतुष्टय के सम्बन्ध में कुमारिलभट्ट का मत द्रष्टव्य है—

‘सिद्धार्यं सिद्धं सम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।

अन्यादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः’ ॥

‘मीमांसा श्लोक वार्तिक’ १।३७

तावत् प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे व्याख्यानस्यापि परमविषयादिकं न स्यात् । अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते ।

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यत्वत्वात् । तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितं—‘धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये’ इति । जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे ‘चोदनैव धर्मं प्रमाणम्’, ‘चोदना प्रमाणमेव’ इति नियमद्वयं संप्रदायविद्भिर्भूतम् । चोदनैवेत्यमुमर्थमुपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—‘प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्य-

(व्याख्यान से सम्बद्ध) इतना ही प्रसिद्ध है, तथापि वेद के विषय आदि के अभाव में व्याख्यान के भी परमविषय आदि संभव नहीं हैं, इसलिए वेद के अनुबन्धचतुष्टय का वर्णन करते हैं (कहने का तात्पर्य यह है कि व्याख्यान के विषयादि दो प्रकार के हैं—सामान्य और परम । इनमें से सामान्य विषयादि तो वे ही हैं, जो अभी ऊपर बताए गए हैं, किन्तु इसके परमविषयादि व्याख्येय वेद के विषयादि पर अवलम्बित हैं, दूसरे शब्दों में वेद के विषयादि ही उसके व्याख्यान के परम-विषयादि हैं । स्पष्ट है कि व्याख्यान के परमविषयादि के ज्ञान के लिए वेद के विषयादि के ज्ञान की अपेक्षा है, इसलिए उनका कथन किया जा रहा है ।

वेद के कर्मकाण्ड अर्थात् मीमांसा का विषय धर्म है और उसके ब्रह्मकाण्ड अर्थात् वेदान्तशास्त्र (उत्तरमीमांसा) का विषय ब्रह्म है, क्योंकि धर्म और ब्रह्म इन दोनों का ज्ञान वेद के अतिरिक्त अन्य किसी भी शास्त्रादि के द्वारा नहीं होता (जिसका जिसमें विवेचन किया जाता है वह उसका विषय होता है । वेद के पूर्व-काण्डों में चूँकि, क्रमशः धर्म और ब्रह्म का विवेचन किया गया है, इसलिए उक्त दोनों वेद के उक्त काण्डद्वय के क्रमशः विषय हैं) । जैसा कि ‘पुरुषार्थानुशासन’ में सूत्रित किया गया है—‘धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये’ (धर्म और ब्रह्म दोनों ही एक-मात्र वेद के द्वारा ज्ञातव्य हैं) । जैमिनि के मीमांसाशास्त्र के द्वितीय सूत्र में ‘चोदना ही धर्म में प्रमाण है’ और ‘चोदना प्रमाण ही है (अप्रमाण नहीं)’ ये दो नियम हैं, ऐसा सम्प्रदायवेत्ताओं का कथन है । धर्म में ‘चोदना’ ही प्रमाण है’ इस विषय का उपपादन करने के लिए (मीमांसाशास्त्र के) ‘प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोलम्भनत्वात्’ (विद्यमान पदार्थ के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने के कारण वह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता) इस चतुर्थसूत्र में ‘धर्म प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, इसका निराकरण कर दिया गया है । (यज्ञ के) अनुष्ठान के

१. कर्म में प्रवर्त्तिक अर्थात् वेद ।

मानोपलभ्यमानत्वात्' (जै० सू० १।१।४) इति । अनुष्ठानादूर्ध्वमुत्पत्त्यस्य-
मानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् न प्रत्यक्षयोग्यतास्ति । उत्तर-
कालेऽपि रूपादिराहित्यात् नेन्द्रियैरवगम्यते । अत एव अदृष्टमिति सर्वैर-
भिधीयते । लिङ्गराहित्यात् नानुमानविषयत्वमप्यस्ति । सुखदुःखे धर्मा-
धर्मयोलिङ्गमिति चेत् बाढम् । अयमपि लिङ्गलिङ्गिभावो वेदेनैव
गम्यते । तत्तश्चोदनेनैव धर्मं प्रमाणम् ।

पश्चात् उत्पन्न होने वाले धर्म के (अनुष्ठान से) पूर्व विद्यमान न होने के कारण
वह (धर्म) प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, बनने में (भाव यह है कि चूँकि धर्म
अनुष्ठान से पूर्व विद्यमान नहीं था इसलिए वह उस समय प्रत्यक्ष का विषय नहीं
था । जो विद्यमान होता है केवल वही प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है) । (अनु-
ष्ठान के) उत्तरकाल में भी रूपादि से रहित होने के कारण धर्म का इन्द्रियों का
बोध नहीं होता (जिसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, केवल वही प्रत्यक्ष का
विषय होता है, और क्योंकि वह केवल रूपादि से युक्त होने की स्थिति में ही
संभव होता है और धर्म रूपादि से रहित होता है, इसलिए अनुष्ठान से उत्तर-
काल में भी वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता) । अतएव वह धर्म सभी लोगों
के द्वारा 'अदृष्ट' (न देखा गया) कहा जाता है । लिङ्ग से रहित होने के कारण
वह अनुमान का भी विषय नहीं है (भाव यह है कि जिस प्रकार धूम रूप विद्यमान
लिङ्ग के द्वारा पर्वतादि में अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है उस प्रकार का
का-लिङ्ग साधन) धर्म का दृष्टिगत नहीं होता, इसलिए उसका ज्ञान अनुमान द्वारा
नहीं हो सकता, यदि कोई यह कहे कि सुख धर्म का और दुःख अधर्म के लिङ्ग है
(अर्थात् धर्म की स्थिति में सुखधर्म का और असुख (दुःख) अधर्म का हेतु है)
और ऐसी स्थिति में धर्म अनुमान का ही विषय होगा तो यह तर्क सिद्धान्तपक्षों को
स्वीकार है (अर्थात् उपर्युक्त रूप में धर्म की अनुमानगम्यता उसे स्वीकार है)
किन्तु इस प्रकार लिङ्ग लिङ्गिभाव अर्थात् सुख और दुःख का क्रमशः और
अधर्म के प्रति लिङ्ग होना तथा धर्म और अधर्म की सुख और दुःख के प्रति क्रमशः
लिङ्गित होना भी हमें वेद के द्वारा ही ज्ञात होता है (अर्थात् इस अनुमान का
भी मूल भी वेद ही है, क्योंकि वेद से ही यह ज्ञात होता है कि धर्म से सुख होता
है और अधर्म से दुःख) । इसलिए चोदना अर्थात् वेद ही धर्म के विषय में प्रमाण
है (उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं) ।

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृदिभिरव्याख्यातम्—‘शास्त्रादेव प्रमाणञ्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः’ । (ब्र० सू० शां० भा० १।१।३) इति । श्रुतिश्च भवति—‘नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्’ (तै० ब्रा० ३।१२।६।७) इति । तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—‘रूप-लिङ्गादिराहित्यान् मानान्तरयोग्यता’ (वै० न्या० १।१।३।१८) इति । तस्मात् अनन्यभ्यत्वादस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम् ।

तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम् । न च तस्य ज्ञानस्य ‘सप्त-द्वीपा वसुमती’ ‘राजासौ गच्छति’ इत्यादिज्ञानवत् अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयम् । धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात् ‘धर्मो विश्वस्य

व्यास के वेदान्तसूत्रों में से तृतीय सूत्र के दूसरे वर्णक में (वेदान्तसूत्र के शंकर आदि) भाष्यकारों ने सिद्धवस्तु ब्रह्म की एकमात्र शास्त्र के विषय के रूप में व्याख्या की है । उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का संसार के जन्म आदि के कारण के रूप में ज्ञानशास्त्ररूपी प्रमाण से ही होता है । इस सम्बन्ध में श्रुति ही है—‘नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्’ (वेद को न जाननेवाला उस बृहत् (ब्रह्म) को नहीं जान सकता । उस (ब्रह्म) के सम्बन्ध में बृहत् (ब्रह्म) को नहीं जान सकता । उस (ब्रह्म) के सम्बन्ध में उपपत्ति को पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है—‘रूपलिङ्गादिराहित्यान् मानान्तरयोग्यता’ (रूप और लिङ्ग आदि से रहित होने के कारण (ब्रह्म) अन्य (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों का विषय नहीं है) । इसलिए धर्म और ब्रह्म दोनों वेद के अतिरिक्त) अन्य किसी प्रमाण के द्वारा लभ्य (ज्ञेय) न होने के कारण वे दोनों वेद के विषय हैं ।

उन दोनों (धर्म और ब्रह्म) का ज्ञान वेद का साक्षात् प्रयोजन है । यहाँ ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि उक्त दोनों का ज्ञान ‘सप्तद्वीपा वसुमती’ (सात द्वीपोंवाली पृथ्वी) और ‘राजासौ गच्छति’ (वह राजा जा रहा है) आदि (लौकिक वाक्यों के) ज्ञान के समान अपुरुषार्थ में पर्यवसित हो जाता है (पूर्व पक्षी का भाव यह है कि जिस प्रकार उपर्युक्त दोनों लौकिक वाक्यों के ज्ञान से पुरुष का कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार धर्म और ब्रह्म के ज्ञान से भी

जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमनुदति धर्मं सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) इति । उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वात् विवदमानयोः पुरुषयोर्मध्ये दुर्बलस्यापि राजसाहाय्यवत् जयहेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः । तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति—'तच्छेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथोऽबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्' (बृ० उ० १।४।१४) इति । 'ब्रह्मविदोऽप्येति परम्' (तै० आ० ८।२) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९), 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थः प्रसिद्धः । तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी । स च त्रैवर्णिकः पुरुषः ।

इसलिए वे दोनों अपुरुषार्थ पर्यवसायी हैं) । क्योंकि—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमनुदति धर्मं सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति' (धर्म समस्त जगत का आधार है, लोक में प्रजा धर्मिष्ठ के पास जाती है (व्यक्ति) धर्म के द्वारा पाप को नष्ट करता है, धर्म में सब स्थिति है, इसलिए (विद्वान् लोग) धर्म को सर्वोत्तम मानते हैं । इस वाक्य में धर्म के द्वारा किए गए पुरुषार्थ की प्रशंसा की गई है । उद्दण्ड सजा को नियन्त्रित करनेवाला होने तथा विवाद करनेवाले दो व्यक्तियों में राजा की सहायता के समान दुर्बल व्यक्ति के भी विजय का कारण होने से धर्म पुरुषार्थ है । जैसा कि वाजसनेयी शाखा का अध्ययन करनेवाले तैत्तिरीय आरण्यक के सृष्टि प्रकरण में प्रतिपादित करते हैं—'तच्छेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथोऽबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्' (उसने श्रेयोरूप धर्म की सृष्टि की । जो धर्म है वह क्षत्र (क्षति से बचाने वाले) का भी क्षत्र है । उस धर्म से महान् और कोई नहीं है । राजा के समान धर्म के द्वारा दुर्बलतम् व्यक्ति भी अत्यन्त बलवान् व्यक्ति को भी आक्रान्त कर लेता है) । 'ब्रह्म विदोऽप्येति परम्' (ब्रह्म को जानने वाला परमतत्त्व को प्राप्त करता है) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है) तथा 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मतत्त्व को जाननेवाला शोकरूपी संसार को पार कर जाता है) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान से प्रयुक्त पुरुषार्थ प्रसिद्ध है । उन दोनों अर्थात् धर्म और ब्रह्म को जानने का इच्छक व्यक्ति वेद का अधिकारी है । और वह पुरुष (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन) तीन वर्णों का होना चाहिए । स्त्री और शूद्र को तो ज्ञान की

स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायामुपनयनाभावेन अध्ययनराहित्यात् वेदेऽधिकारः प्रतिबद्धः । धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेनोत्पद्यते । तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेनार्थज्ञानेऽधिकारः ।

संबन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः । तदीय-ज्ञानेन सह जन्यजनकभावः त्रैवर्णिकपुरुषैः सहोपकार्योपकारकभावः । तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य समाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्तन्ताम् ।

अपेक्षा होने पर भी उनका वेद में अधिकार निषिद्ध है, क्योंकि उपनयन न होने के कारण वे वेद के अध्ययन से वञ्चित रहते हैं (भाव यह है कि उपनयन संस्कार के पश्चात् ही वेद का अध्ययन प्रारम्भ होता था, क्योंकि स्त्री और शूद्र का उपनयनशास्त्र निषिद्ध है, इसलिए वेदाध्ययन के भी अधिकारी नहीं हैं) । स्त्रियों और शूद्रों को धर्म और ब्रह्म का ज्ञान पुराणादि के द्वारा होता है । इसलिए तीनों वर्णों के पुरुषों के द्वारा (उसके) अर्थज्ञान का अधिकार है ।

वेद का धर्म और ब्रह्म के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है (धर्म और ब्रह्म वेद के प्रतिपाद्य हैं और वेद उनका प्रतिपादक है, इसलिए उनमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है) । उन (धर्म और ब्रह्म) के ज्ञान के साथ (वेद का) जन्यजनक भाव सम्बन्ध है (ज्ञान जन्य या उत्पाद्य है और वेद उसका उत्पादक इसलिए उनमें उक्त सम्बन्ध है) । तीनों वर्णों के पुरुषों के साथ वेद का उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध है (अर्थात् पुरुष उपकार्य है और वेद उनका उपकारक, अतः उनमें उक्त सम्बन्ध है) । सो इस प्रकार विषय आदि अनुबन्ध चतुष्टय को जानकर समाहित बुद्धिवाले श्रोता वेद के व्याख्यान में प्रवृत्त हों ।

अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि । अत एव तेषामपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषद्याथर्वणिका आसन्नन्ति—‘द्वे विधे वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते’ (मुं० उ० १।१।४-५) इति । साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसंहितानां कर्मकाण्डानामपरविद्यात्वम् । परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् उपनिषदां परविद्यात्वम् ।

वेद के शिक्षा आदि षडङ्ग—अत्यन्त गम्भीर वेद के अर्थ का बोध कराने के लिए (उसके) शिक्षा आदि छह अङ्ग प्रवृत्त हैं । इसीलिए अथर्ववेद के अध्येता मुण्डकोपनिषद् में उनके (षडङ्गों के) अपर विद्या के रूप को कहते हैं—जिन्हें परा और अपरा नामक दो विद्याओं को ब्रह्मज्ञ लोग ज्ञातव्य कहते हैं उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये परा विद्या के अन्तर्गत आते हैं और जिससे वह अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म अधिज्ञ होता है, वह परा विद्या है’ । (ब्रह्मज्ञान के) साधनभूत धर्मज्ञान का हेतु होने के कारण छह अङ्गों सहित (वेद का समस्त) कर्मकाण्ड विभाग अपरा है । परम पुरुषार्थभूत ब्रह्मज्ञान का हेतु होने के कारण उपनिषदें परा विद्या हैं (भाव यह है कि वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । इनमें से ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध उपनिषदों से है । चूँकि इनमें परम तत्त्व ब्रह्म के ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए ये परा विद्या हैं । इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति धर्मज्ञान की प्राप्ति के अधीन है और वह (धर्म) स्वयं वैदिक कर्मकाण्ड (वैदिकसंहिता) पर निर्भर करता है । क्योंकि ये संहिताएँ पर ब्रह्म की तुलना में अपर धर्म का प्रतिपादन करती हैं, इसलिए वे तथा उनके शिक्षा आदि षडङ्ग अपरा विद्या हैं) ।

ऋग्वेद भाष्य भूमिका]

[१६७]

वर्णस्वराद्यच्चायणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा । तथा च तैत्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति—‘शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, संतान इत्युक्तः शं/क्षाध्यायः’ (तै० उ० ११) इति । वर्णोऽकारादिः । स च अङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः—

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।

प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥

(पा० शि० ३) इत्यादिना ॥

स्वर उदात्तादिः । सोऽपि तत्रोक्तः—

‘उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः’ (पा० शि० ११) इति ।

शिक्षा नामक अङ्ग और उसका प्रतिपाद्य

जिममें वर्ण और स्वर आदि के उच्चारण के प्रकार का उपदेश दिया जाता है उसे ‘शिक्षा’ कहते हैं । जैसा कि तैत्तिरीय शाखा का अव्ययन करनेवाले तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रारम्भ में कहते हैं—‘(अब हम) शिक्षा की व्याख्या करेंगे । वर्ण स्वर, बल, साम और संतान—यह शिक्षा का अध्याय कह दिया गया (अर्थात् शिक्षा के अन्तर्गत वर्णादि का अव्ययन किया जाता है)’ । अकारादि (‘अ’ आदि स्वर तथा ‘क’ आदि व्यंजन) को वर्ण कहते हैं । और वे वर्ण वेद के अङ्गभूत शिक्षाग्रन्थ ‘पाणिनीय शिक्षा’ में (इस प्रकार) स्पष्ट रूप से कहे गए हैं—

‘शम्भु अर्थात् शंकरजी के विचार में वर्णों की संख्या तिरसठ अथवा चौंसठ है । ये वर्ण प्राकृत और संस्कृत दोनों में स्वयं स्वयम्भु (ब्रह्म) के द्वारा कहे गए हैं’—

उदात्तादि को स्वर कहते हैं । वे अर्थात् स्वर भी वहीं ‘पाणिनीय शिक्षा’ में इस प्रकार प्रतिपादित किए गए हैं—

‘उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर हैं’ ।

१. ‘पाणिनीय शिक्षा’ के अनुसार तिरसठ अथवा चौंसठ वर्ण हैं जैसा कि कहा गया है—

‘स्वरा विशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।

यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥

अनुस्वारो विवर्गश्च कपो चापि पराश्रितौ ।

दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेये लृकारः प्लुत एव च ॥

—पा० शिक्षा० ४-५

मात्रा ह्रस्वादिः । सापि तत्रोक्ता—

‘ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि’ (पा० शि० ११) इति ।
बलं स्थानप्रयत्नौ । तत्र ‘अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्’ (पा० शि०
१३) इत्यादिनः स्थानमुक्तम् । ‘अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वोषत्’ (पा० शि०
३८) इत्यादिना प्रयत्न उक्तः ।

सामशब्देन साम्यमुक्तम् । अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहि-
त्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेन चोच्चारणं साम्यम् । ‘गीतो शीघ्रो शिरःकम्पी’
(पा० शि० ३२) इत्यादिना ‘उपांशु दृष्टं त्वरितम्’ (पा० शि० ३५)
इत्यादिना च दोषा उक्ताः । ‘माधुर्यमक्षरव्यक्तिः’ (पा० शि० ३३)
इत्यादिना गुणा उक्ताः ।

ह्रस्व आदि को मात्रा कहते हैं । उस मात्रा के सम्बन्ध में भी वहाँ
(‘पाणिनीय शिक्षा’ में इस प्रकार) कहा गया है—

‘ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—ये तीन मात्राएँ स्वरों में काल (समय) के नियम
(के रूप में होती हैं’ ।

स्थान और प्रयत्न को बल कहा जाता है । उनमें ‘वर्णों के आठ स्थान’ है’
इत्यादि के द्वारा स्थान बता दिया गया है और ‘अच् अस्पृष्ट तथा यण्
(य व र ल) ईषत्स्पृष्ट है’ इत्यादि के द्वारा प्रयत्न^२ कहा गया है ।

साम शब्द के द्वारा साम्य को बताया गया है । अतिद्रुत (अत्यन्त द्रुत गति से
पढ़ना) और अतिविलम्बित (अत्यन्त धीमे पढ़ना) आदि दोषों से रहित तथा
माधुर्य आदि गुणोंसे युक्त उच्चारण को साम्य कहते हैं । ‘गीतो शीघ्रो शिरः कम्पी’

१. मुखगद्गर् या अन्यत्र जिस स्थान पर भीतर से बाहर की ओर जाती हुई
वायु को अवरुद्ध या बाधित किया जाता है उसे ‘स्थान’ कहा जाता है,
पाणिनीय शिक्षा के अनुसार ये स्थान संख्या में आठ हैं, यथा ‘उरस्, कण्ठ,
शिरस्, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, दोनों ओष्ठ और तालु, (पा० शिक्षा
१३) ।

२. ध्वनियों के उच्चारण में वागवयवों के द्वारा किए जानेवाले प्रयास को प्रयत्न
कहा जाता है । ये आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार के हैं । इनमें
से आभ्यन्तर के अल्पप्राण और महाप्राणादि ग्यारह तथा बाह्य के स्पृष्ट
और ईषत्स्पृष्ट आदि चार या पांच भेद हैं ।

सन्तानः संहिता । 'वायवायाहि' (ऋ० सं० १।२।१) इत्यत्र अवा-
देशः । इन्द्राग्नी आ गतम्' (ऋ० सं० ३।१।२।१) इत्यत्र प्रकृतिभावः ।
एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायामुपेक्षितम् । शिक्ष्यमाणवर्णातिवै-
कल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—

और 'उपांशु द्रष्टं स्वरितमम्'^१ के द्वारा दोष तथा माधुर्यमक्षरव्यक्तिः'^२ के द्वारा
गुण बताया गए हैं ।

सन्तान का अर्थ संहिता अर्थात् संधि है । 'वायवायाहि' (यामो + आयाहि)
इसमें ('ओ' को) अव आदेश हुआ है । 'इन्द्राग्नी आ गतम्' इसमें प्रकृतिभाव

१. पाठक तथा उच्चारण के दोष से सम्बद्ध पा० शि० के उपरि संकेतित दोनों
श्लोक इस प्रकार हैं—

‘गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखित पाठकः ।

अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥

‘उपांशु द्रष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।

निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्’ ॥

(पा० शि०, ३२/३५)

२. पाठक के गुणों का संख्यान करने वाला पा० शि० का पूरा श्लोक इस
प्रकार है—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।

धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥

(पा० शि० ३)

‘मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्’ ॥

(पा० शि० ५२) इति ।

‘इन्द्रशत्रुर्वधस्व’ (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातकः इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे ‘समासस्य’ (पा० सू० ६।१।२२३) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वात् अन्तोदात्तेन भवितव्यम् । आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः । तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वात् इन्द्रो

सन्धि^१ है । यह अर्थात् सन्धि क्योंकि, व्याकरण में विवेचित है, इसलिए ‘शिक्षा’ में इसकी उपेक्षा कर दी गई है (कहने का तात्पर्य यह कि ‘शिक्षा’ में सन्धि का विवेचन नहा किया जाता) । उपदिश्यमान वर्णों में (उच्चारण की दृष्टि से) आनेवाली अशुद्धि में होनेवाले दोष (बाध) का वहाँ अर्थात् ‘पाणिनीय शिक्षा’ में उदाहरण दिया गया है—

‘स्वर (उदात्तादि) और वर्ण से हीन तथा मिथ्याप्रयुक्त मन्त्र अपने उस (जिसके लिए उसका प्रयोग किया गया है) अर्थ को नहीं कहता । जिस प्रकार ‘इन्द्रशत्रुः’ यह शब्द स्वर के दोष के कारण यजमान को नष्ट करनेवाला सिद्ध हो गया (इसी प्रकार मिथ्या प्रयुक्त) वह वाग्वज्र यजमान को नष्ट कर देता है’ ।

तै० सं० के ‘इन्द्रशत्रुर्वधस्व’ इस मन्त्र में ‘इन्द्रशत्रुः’ शब्द का ‘इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक’ इस विवक्षित अर्थ के रहने पर इन्द्रश्च शत्रुः इस प्रकार तत्पुरुष समास और तत्पुरुष समास होने के कारण ‘समासस्य’ इस सूत्र के नियमानुसार उसे अन्तोदात्त होना चाहिए था, किन्तु उसका प्रयोग किया गया आद्युदात्त के रूप में । और उस स्थिति में पूर्वपद ‘इन्द्र’ की ‘इ’ में प्रकृति अर्थात् मूलस्वर के होने के कारण बहुव्रीहि समास हो जाने से उसका अर्थ हो गया—

१. ‘प्रकृतिभाव’ एक ऐसी सन्धि है, जिसमें पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों स्वर अपनी पूर्वस्थिति में बने रहते हैं, अर्थात् उनमें से किसी में भी कोई परिवर्तन नहीं होता, उदाहरण के लिए उर्युपक्त उदाहरण के ‘अग्नी’ की ‘ई’ और ‘आ’ । इन्हें ई—आ = या हो जाना चाहिए, था किन्तु प्रकृतिभाव होने के कारण वैसा नहीं हुआ ।

घातको यस्य इत्यर्थः संपन्नः । तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहारस्य शिक्षा ग्रन्थोऽपेक्षितः ।

कः पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबोधामनादिसूत्रम् । कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः ।

ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य । नाह्नः 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्व व्याख्यास्यामः' (आश्व० श्रौ० सू० १।१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात् । न हि 'अग्निमीले' (ऋ० सं० १।१।१)

इन्द्र है । घातक जिसका अर्थात् इन्द्र का वध्य इसलिए (उदात्तादि) स्वर और वर्णों के (अशुद्ध प्रयोग से) जन्य अपराधों के परिहार के लिए शिक्षाग्रन्थ अपेक्षित है ।

कल्प और उसका प्रयोजन

आश्वलायन, आपस्तम्ब और बोधायन आदि के सूत्रों की संज्ञा कल्प है । इन्हें कल्प इस व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जाता है कि इनमें याग के प्रयोग की कल्पना या समर्थन किया गया है ।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि आश्वलायन श्रौतसूत्रों के रचयिता आश्वलायन वेद के मन्त्रकाण्ड का अनुसरण कर (अपनी रचना में) प्रवृत्त हुए हैं या ब्राह्मण का अनुसरण कर ? इनमें से प्रथम अर्थात् मन्त्रकाण्ड का अनुसरण कर प्रवृत्त होना तो इसलिए सम्भव नहीं कि उन्होंने ग्रन्थ का प्रारम्भ ता किया है—'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्व व्याख्यास्यामः' (हम पहले दर्श और पूर्णमास यज्ञों की व्याख्या करेंगे) इस (प्रतिज्ञा) के साथ किन्तु दर्श और पूर्णमास यज्ञों में कहीं भी 'अग्निमीले' इत्यादि मन्त्रों का विनियोग नहीं किया गया है (भाव यह है कि 'अग्निमीले' इत्यादि अग्निदेवता मन्त्र ऋग्वेद के प्रारम्भ में आते हैं, किन्तु इनका विनियोग कहीं भी दर्श और पूर्णमास यज्ञ में नहीं मिलता । यदि आश्वलायन सूत्रों की रचना मन्त्रकाण्ड के अनुसार पर हुई होती तो इन मन्त्रों का उक्त यज्ञों में विनियोग अवश्य हुआ होता । परन्तु, क्योंकि ऐसा नहीं हुआ है इसलिए आश्वलायन के द्वारा मन्त्रकाण्ड के अनुसरण का प्रश्न निराधार है) । और

इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद्विनियुक्ताः । द्वितीयः 'आग्नावै-
ष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्ये-
वं दीक्षणीयेष्टेः ब्राह्मणे प्रकान्तत्वात् ।

अत्रोच्यते-मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठा-
नक्रमेण । ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः--'यत् स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः
साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०) इति । सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपः
'अग्निमीले' इत्यास्तायक्रमेणैवानुष्ठेयः । तथा सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि
सर्वाणि सामानि 'वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयते ।
तथाश्विने शस्यमाने' सूर्यो नोदियादपि सर्वा दशतयोरनुब्रूयात्' (आप०

दूसरी बात सम्भव नहीं है क्योंकि 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीय-
मेकादशकपालम्' इस ऐतरेयब्राह्मण के वाक्य से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण का
प्रारम्भ दीक्षणीय दृष्टि से हुआ है (अर्थात् यदि आश्वलायन सूत्रों की रचना
ब्राह्मण के अनुसरण पर की गई होती तो उसका भी प्रारम्भ दीक्षणीया दृष्टि
से ही होता न कि दर्श और पूर्णमास से) ।

इस पर हमारा कहना यह है कि मन्त्रकाण्ड की प्रवृत्ति ब्रह्मयज्ञादि के जप
के क्रम से हुई है कि यज्ञों के अनुष्ठान के क्रम से । और ब्रह्मयज्ञ का विधान
इस प्रकार किया गया है--'यत् स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद्
ब्रह्मयज्ञः' (जो स्वाध्याय के रूप में एक भी ऋचा, यजुष् अथवा साम का
अध्ययन (व्यक्ति) करता है, वह ब्रह्मयज्ञ है) । इस ब्रह्मयज्ञजप का अनुष्ठान
'अग्निमीले' इसके क्रम से ही करना चाहिए था ? इसी प्रकार सभी ऋचाओं,
सभी यजुषों और सभी सामों का विधान 'वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसति' इस
वचन के द्वारा किया गया है ।

इसी प्रकार आश्विन शस्त्र का शंसन करते समय 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा
दशतयोरनुब्रूयात्' (यदि सूर्य का उदय न भी हुआ तो भी समस्त दश-
मण्डलात्मक ऋग्वेद का पाठ करना चाहिए) ।

श्रौतसूत्र १४।१।२) इति विधीयते । तथा 'रिच्यत् इव वा प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति याजयित्वा प्रतिगृह्णा वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम् । इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु संप्रदायपारंपर्यागत एव क्रम आदरणीयः ।

विशेषविनियोगास्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणान्युपजीव्य आश्वलायनो दर्शयति । यतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद्विरोधः ।

‘इषे त्वा’ इत्यादिमन्त्रास्तु कृत्वनुष्ठानक्रमेणैवास्मात्ता इत्यापस्तम्बादयस्ते क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः । आस्मात्त्वादेव जपादिष्वपि स

इस वाक्य से ऋग्वेद के समस्त मन्त्र विहित होते हैं । ठीक इसी प्रकार ‘रिच्यत् एव वा प्रेव रिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति याजयित्वा प्रतिगृह्णवानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत’ (जो ऋत्विक्) द्रव्य की लालच से यजन करता है और जो (अग्राह्य वस्तु का) दान ग्रहण करता है, वह रिक्त अर्थात् यशोरहित हो जाता है । इस प्रकार यजन करा एवं दान को ग्रहण करने के पश्चात् प्राप्त द्रव्यराशि का उपभोग न करनेवाले को स्वाध्याय के रूप में वेद का तीन बार अध्ययन करना चाहिए । इसके द्वारा प्रायश्चित्त के रूप में वेद के पारायण का विधान किया गया है । यद्यपि इन स्थलों पर समस्त मन्त्रकाण्ड का ही पारायण के लिए विनियोग किया गया है तथा सम्प्रदाय परम्परा से चले आए क्रम का ही आदर करना चाहिए ।

विशिष्ट मन्त्रों के विशिष्ट विनियोगों को तो आश्वलायन श्रुति, लिङ्ग और वाक्य आदि प्रमाणों के आधार पर प्रदर्शित कर रहे हैं । इसलिए (आश्वलायन की रचना में) मन्त्रकाण्ड के क्रम का अभाव होने पर भी कोई विरोध नहीं है ।

जहाँ तक यजुर्वेद के ‘इषे त्वा’ आदि मन्त्रों का प्रश्न है वे यज्ञ के अनुष्ठान के क्रम से ही वहाँ पढ़े गए हैं, इसीलिए आपस्तम्ब आदि उसी क्रम से सूत्ररचना में प्रवृत्त हुए हैं, उनके आस्मात् होने के कारण जप आदि में भी उनका वही क्रम है । यद्यपि ब्राह्मण के प्रारम्भ में दीक्षणीया इष्टि का निरूपण किया गया है,

एव क्रमः यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरूपज्ञाता, तथापि तस्या इष्टेर्दश-
पूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वात् आश्वलायनस्य आदौ तद्व्याख्यानं
युक्तम् । अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति ।

तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादीनां सामिधेनीना-
मृचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु । 'नमः प्रवक्त्रे' (आश्व० श्रौ०
सू० १।२) इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते इति चेत्, नायं

फिर भी वह इष्टि दर्श और पूर्णमास यज्ञ की विकृति है इसलिए उसे
उन दोनों (दर्श और पूर्णमास) की अपेक्षा है (भाव यह है कि प्रकृतिभूत
दर्श और पूर्णमास के अनुष्ठान के अभाव में विकृतिभूता दीक्षणीया इष्टि का
अनुष्ठान ही सम्भव नहीं है, इसलिए इष्टि को अपने अनुष्ठान की सिद्धि के
के लिए उन दोनों की सदैव अपेक्षा रहती है) । इसलिए आश्वलायन का (अपनी
कृति के) प्रारम्भ में दर्श और पूर्णमास की व्याख्या करना उचित है । इस विवे-
चन से यह स्पष्ट है कि कल्पसूत्र मन्त्रों के विनियोग के द्वारा क्रतु के अनुष्ठान का
उपदेश करके (लोक का) उपकार करता है ।

इस पर यह शंका की जा सकती है कि ऐसी स्थिति में तो आश्वलायन को
केवल 'प्र वो वाजा' आदि सामिधेनी ऋचाओं का ही विनियोग बतलाना चाहिए
(क्योंकि वे आम्नात हैं) 'नमः प्रवक्त्रे' जैसे मन्त्रों का विनियोग उन्होंने क्यों
दिखाया है, जो कि ऋग्वेद में आम्नात नहीं हैं ? उत्तर में सिद्धान्तपक्षी का कथन
है कि यह कोई दोष नहीं है । अन्य शाखाओं में आम्नात मन्त्रों के उस विनियोग
को जो अन्य ब्राह्मण के द्वारा सिद्ध है गुणोपसंहार न्याय से यहाँ कहा जा सकता
है ('गुणोपसंहारन्याय' से तात्पर्य वेद की समस्त शाखाओं में विहित गुणों (अङ्गों)
के एकत्रीकरण से है । प्रकृत में इसकी स्पर्शकता यह है कि इस न्याय के आधार
पर उन मन्त्रों के भी विनियोग को ठीक माना जा सकता है, जो आम्नात तो हैं,
किन्ती दूसरी शाखा में और उनका विनियोग उनकी शाखा के ब्राह्मण से न सिद्ध

बोधः । शस्त्रान्तरसमास्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहास्यायेनात्र वक्तव्यत्वात् । 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' इति न्यायविदः । तस्मात् शिक्षैव कल्पोऽपि अपेक्षितः ।

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययानुपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायोपयुज्यते । तथा च ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे समास्नायते—'कामवै पराव्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽन्नवौद्वरं वृणं मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते ।

होकर शाखान्तरेय ब्राह्मण से सिद्ध होता है । इस सम्बन्ध में न्यायवेत्ताओं की यह मान्यता भी है कि समस्त शाखाओं में प्रतीत होनेवाला एक कर्म भिन्न-भिन्न न होकर एक ही है । इसलिए शिक्षा के समान कल्प भी (वेदाध्ययन के लिए) अपेक्षित है ।

व्याकरण एवं उसका प्रायोजन

व्याकरण भी प्रकृति और प्रत्यय आदि के उपदेश के द्वारा पद के स्वरूप और उसके अर्थ के निश्चय के लिए उपयोगी है । जैसा कि ऐन्द्रवायवग्रह ब्राह्मण में कहा गया है—'प्राचीन काल में अव्याकृत वाणी ने (स्वयं को व्याकृत करने के लिए देवताओं से) कहा । उन देवताओं ने इन्द्र से कहा 'हमारी इस वाणी को व्याकृत कर दीजिए' । इन्द्र ने कहा—'मुझे वर दीजिए कि मैं और वायु साथ-साथ (सोमरस को) ग्रहण करें । इसीलिए इन्द्र और वायु का (सोमरस) साथ-साथ लिया जाता है । इन्द्र ने उसे मध्य में विच्छिन्न करके व्याकृत कर दिया ।

३. 'तैत्तिरीय संहिता' का वह भाग जिसमें इन्द्र ने, देवताओं के द्वारा वाणी को व्याकृत करने की प्रार्थना करने पर स्वयं अपने और वायु के लिए सोमरस के ग्रहण की बात है ।

तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुच्चते' (तै०सं० ६।४।७।३) इति । 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ०सं० १।१।१) इत्यादिवाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सती अव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत् । तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन्नेव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टः तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृति-प्रत्ययादिविभागं सर्वत्राकरोत् । तस्मादियं वाक् इदानीमपि पाणिन्याः दिमहर्षिभिरव्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्यर्थः ।

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—
'रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम्' इति । एतानि रक्षादिप्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि "रक्षार्थं वेदा-

उसी काल से यह व्याकृत वाणी बोली जाती है' । इसका अभिप्राय यह है 'अग्नि-मीले पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्रों की वाणी प्राचीनकाल में समुद्र आदि की ध्वनि के समान एकरूप रहती हुई (पराची) अव्याकृत थी, अर्थात् वह प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य आदि विभाग करनेवाले ग्रन्थों से रहित थी । उस समय देवताओं ने इन्द्र से (वाणी को व्याकृत करने की) प्रार्थना की । इन्द्र ने एक ही पात्र में वायु और स्वयं को सोमरस के ग्रहण रूप वर से सन्तुष्ट होकर उस अखण्ड वाणी को बीच से विच्छिन्न कर उसे सर्वत्र प्रकृति और प्रत्यय आदि विभागों में विभक्त कर दिया । इसीलिए यह वाणी इस समय भी पाणिनि आदि महर्षियों के द्वारा व्याकृत होकर सभी लोगों के द्वारा पढ़ी जा रही है ।

इस व्याकरण के (उपर्युक्त प्रयोजन के अतिरिक्त) प्रयोजन विशेष को वररुचि ने अपने वार्तिक में (इस प्रकार) दिखाया है—'रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह (चक्रचीवरादिन्याय से एकीकृत) ये पाँच व्याकरण के प्रयोजन हैं । इन रक्षा आदि प्रयोजनों और इनसे भिन्न प्रयोजनों को भी पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्पष्ट किया है । (जैसे) वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि (ध्वनियों के) लोप, आगम और वर्णविकार को जाननेवाला ही

नामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यक् वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति । ऊहः खल्वपि न सर्वलिङ्गं न सर्वाभिविभक्तिभिवंदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान् नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

आगमः खल्वपि 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति । प्रधानं च षट्ध्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति । लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च वक्ता । इन्द्रश्च अध्येता । दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः ।

वेदों को समीचीनतया रक्षा करेगा और वेद के अर्थ को समझ सकता है । ऊह भी व्याकरण का प्रयोजन है । वैदिक संहिताओं में मन्त्र सभी लिङ्गों और सभी विभक्तियों में नहीं कहे गए हैं । यज्ञ में स्थित (व्यक्ति-ऋत्विक्) को उन्हें आवश्यकतानुसार अवश्य ही परिवर्तित कर लेना चाहिए । व्याकरण न जाननेवाला व्यक्ति उनका परिणमन नहीं कर सकता । इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

आगम अर्थात् शास्त्र भी व्याकरण का एक प्रयोजन है । शास्त्र कहता है— 'ब्राह्मण को बिना किसी कारण के धर्मस्वरूप वेद को षडङ्गों सहित पढ़ना और जानना चाहिए' । और व्याकरण छठी अंगों में प्रधान है । और प्रधान (मङ्गल) के प्रति किया गया प्रयत्न फलवान् होता है ।

लघु (लाघव) के लिए भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । बृहस्पति ने इन्द्र के लिए एक सहस्र दिव्य वर्षों तक एक-एक करके बोले गए शब्दों का शब्द पारायण कहा, किन्तु (शब्दों के) अन्त तक न पहुँच सके । (शब्दपारायण की उक्त प्रक्रिया में) बृहस्पति जैसा प्रवक्ता था और इन्द्र जैसा अध्येता, अध्ययन का समय भी एक सहस्र दिव्य वर्षों का था । फिर भी (शब्दों के) अन्त को नहीं पाया जा सका था । आज तो यदि किसी की आयु बहुत अधिक हुई तो सौ वर्ष तक जीता है । उस आयु में प्रत्येक पद के अलग-अलग पाठ से समस्त पदों का बोध कैसे हो सकता है । पदों के प्रयोग के द्वारा उनके बोध का तो प्रश्न ही कैसे हो सकता है ?

१. एक दिव्य वर्ष = एक सहस्र मानव वर्ष ।

अन्तं च न जगाम । अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति
 तत्र कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः । कुतस्तरां प्रयोगेण । असन्दे-
 हार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति—‘स्थूलपृषतीमाग्निवारुणी-
 मनङ्वाहीमालभेत’ इति । तत्र न ज्ञायते किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः
 सा स्थूलपृषती, किंवा स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषतीति । तां नावै-
 याकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः,
 अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिरिति ।

व्याकरण का अध्ययन असन्देह के लिए भी करना चाहिए । याज्ञिक लोग
 पढ़ते हैं—‘स्थूल पृषतीमाग्निवारुणीमनङ्वाहीमालभेत’ (अग्नि और वरुण देवता
 की स्थूलपृषती गाय का आलम्भन करे) । इस वाक्य में प्रयुक्त ‘स्थूलपृषती’ शब्द
 के सम्बन्ध में इस बातका ज्ञान नहीं होता कि उसका अर्थ ‘स्थूलानि पृषन्ति यस्याः
 सा’ (जिसके शरीर पर मोटी-मोटी बुन्दकियाँ पड़ी हुई हों)-यह है अथवा
 ‘स्थूला चासौ पृषती च’ (जो मोटी होने के साथ-साथ बुन्दकियों से युक्त भी हो)
 यह है । व्याकरण को न जाननेवाला व्यक्ति स्वर के आधार पर उसका निश्चय
 नहीं कर सकता (क्योंकि उसे स्वर का ज्ञान नहीं होता) इसके विपरीत वैयाकरण
 व्यक्ति ‘समास के अन्त में आनेवाले शब्द में उदात्त स्वर के होने की स्थिति में
 कर्मधारय समास होता है और समस्त पद के पूर्ववर्ती पद में उसका अपना स्वर
 होने की स्थिति में बहुव्रीहि समास होता है, इस नियम के आधार पर उसका
 निश्चय कर देता है ।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि । तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु । प्रयुङ्क्ते । अविद्वांसः विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण इति ।

तेऽसुराः

तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्मात् ब्राह्मणेन न स्लेच्छितवै नापभाषितवै । स्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः । स्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ।

दुष्टः शब्दः

‘दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

(पा० शि० ५२)

दुष्टान् शब्दान् मा पयुक्षमहीत्यध्येयं व्याकरणम् ।

शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण के ये (कुछ) अन्य भी प्रयोजन हैं—तेऽसुराः, दुष्टः शब्दः, यदधीतम्, यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांसः, विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्वः सक्तुमिव सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य और सुदेवो असि वरुण^१ । (अब इनमें से प्रत्येक प्रयोजन को स्पष्ट किया जा रहा है) ।

तेऽसुराः

वे असुर ‘हेऽसुरयः’ के स्थान पर ‘रेलयो हेलयः’ । हे शत्रुओं, हे शत्रुओं अरि = शत्रु करते हुए पराजित हो गए । भाव यह है कि असुर लोग ‘अरि’ शब्द का उच्चारण ‘अलि’ के रूप में करते थे । इस भ्रष्ट उच्चारण के कारण ही उन्हें पराजित अर्थात् समाज में अपमानित होना पड़ा । इसलिए ब्राह्मण को स्लेच्छ अर्थात् अपभाषण नहीं करना चाहिए । जो यह अपशब्द है वह निश्चय ही स्लेच्छ है । हम स्लेच्छ न हों, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

दुष्टः शब्दः

‘स्वर (उदात्तादि) अथवा वर्ण की दृष्टि से दुष्ट तथा मिथ्याप्रयुक्त शब्द (अपने) उस अर्थ को नहीं कहता (जिसके लिए उसका प्रयोग किया गया होता है) । वह शब्द वज्र बनकर यजमान को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार स्वर के दोष से ‘इन्द्रशत्रुः’ इस शब्द ने वृत्त का विनाश कर दिया था ।

हम दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

१. पतञ्जलि के द्वारा परिमणित, ये प्रयोजन विभिन्न वैदिक मन्त्रों के प्रतीक हैं ।

यदधीतम्

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दते ।

अनगनाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावत् व्यवहारकाले ।

सोज्ज्वलन्माप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

यदधीतम्

‘विना समझे ही पढ़ा हुआ जो केवल पाठ के रूप में उच्चरित किया जाता है, वह अग्निरहित प्रदेश में स्थित सूखी लकड़ी के समान कभी भी प्रज्ज्वलित नहीं होता, अर्थात् अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता’ ।

हम विना समझे अर्थात् निरर्थक अध्ययन करें, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते

(शब्द प्रयोग में) कुशल जो व्यक्ति व्यवहार के विशेषकाल में शब्दों का यथावत् प्रयोग करता है, वह वाणी के योग (प्रयोग) को समझनेवाला व्यक्ति परलोक में सीमारहित विजय प्राप्त करता है, किन्तु वाणी के योग को न समझने वाला व्यक्ति अपशब्दों के प्रयोग से दूषित हो जाता है ।

कः ? वाग्योगविदेव । यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः प्राप्नोति अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अत्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । यथा गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयः । अथ योज्वाग्योगविदज्ञानं तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो हि अजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि कः ? अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद् ज्ञानं तस्य शरणम् ।

शंका होती है कि कौन दूषित होता है ? (पूर्वपक्षी की ओर से) उत्तर है—‘वाणी के योग को जाननेवाला ही क्योंकि जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है । जिस प्रकार शब्द को जानने से उसे धर्म की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान से भी अधर्म की प्राप्ति होती है, अथवा (कहता यह चाहिए कि) अधर्म की प्राप्ति अधिक होती है । क्योंकि अपशब्द बहुत अधिक हैं और शब्द बहुत कम । एक-एक शब्द के कई-कई अपभ्रंश होते हैं । जैसे ‘गौः’ इस शब्द के ‘गावी’ ‘गोणी’ ‘गोता’ और ‘गोपोतलिका’ आदि कई अपभ्रंश हैं । इसके विपरीत जो व्यक्ति वाणी के योग को नहीं जानता, अज्ञान उसका रक्षक है, अर्थात् अज्ञानी होने के कारण वह अपशब्द के प्रयोग का अपराधी नहीं होता ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है । अज्ञान (किसी का) पूर्णरूपेण रक्षक नहीं हो सकता । क्योंकि जो व्यक्ति अन-ज्ञान में भी ब्राह्मण की हत्या कर डालता है, अथवा सुरापान कर लेता है वह भी पतित हो जाता है, ऐसा मैं समझता हूँ । ऐसी स्थिति में फिर कौन दूषित होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—‘वाणी के योग को न जाननेवाला ही । इसके विपरीत जो वाणी के योग को जाननेवाला होता है, उसका रक्षक ज्ञान होता है, अर्थात् वह अपने ज्ञान से अपशब्दों के प्रयोग से बचता है और फलस्वरूप पाप का आगी नहीं बनता ।

अविद्वांसः

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।

कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥

स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति—‘प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्याः’ इति न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

अविद्वांसः.

‘जो अविद्वान् अर्थात् मूर्ख व्यक्ति अभिवादन के उत्तर में (अभिवाद्य को ओर से) दिये जानेवाले वाक्य में अभिवादन करनेवाले के नाम में प्लुत स्वर को नहीं जानते (अर्थात् प्लुत स्वर में नाम का उच्चारण नहीं करते) उनके प्रति ‘यह मैं हूँ’ यह वाक्य उसी प्रकार कहना चाहिए, जिस प्रकार प्रवास से आया हुआ व्यक्ति स्त्रियों से कहता है^१ ।

हम स्त्रियों के समान न हों, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

विभक्तिं कुर्वन्ति

याज्ञिक अर्थात् कर्मकाण्डी पढ़ते हैं—‘प्रयाज (नामक) मन्त्रों को विभक्ति सहित कर लेना चाहिए’ । व्याकरण के अभाव में प्रयाज मन्त्रों को विभक्ति सहित नहीं किया जा सकता । इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

- पाणिनि के सूत्र ‘प्रत्यभिवादेऽशूद्रे’ के अनुसार अशूद्रविषयक प्रत्यभिवादन वाक्य की ‘टि’ (अन्तिम स्वर से पहले का वर्ण) प्लुत होता है । जैसे—‘अभिवादये देवतत्तोऽहम्’ इस अभिवादन वाक्य के उत्तर में प्रयुक्त ‘आयुष्मान् भव देवदत्तः’ इस वाक्य का ‘देवदत्तः’ शब्द । किन्तु यदि अभिवादन वाक्य की प्रयोक्ता यदि कोई स्त्री हो तो उसके प्रति आशीर्वादात्मक वाक्य में यह नियम लागू नहीं होता (‘स्त्रियां न’ वा०) जैसे—‘आयुष्मती भव गार्गि’ इस वाक्य में ।

यो वा इमां

यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आत्वि-
जीनो भवति ।

आत्विजोनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ।

चत्वारि—

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आविवेश ॥

(ऋ० सं० ४।५।८।३)

चत्वारि श्रृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च ।
त्रयो अस्य पादास्त्रयः कालाभूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे सुपस्ति-

यो वा इमां

‘जो इस वाणी को पद से, (उदात्तादि) स्वर से, अक्षर से और वर्ण से
(अर्थात् सभी दृष्टियों से पूर्व के रूप में उच्चरित) करता है, वह व्यक्ति आत्वि-
जीन (ऋत्विक् के कर्म को करने का अधिकारवाला) होता है ।

हम आत्विजीन हों, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

चत्वारि

‘इसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर और सात हाथ हैं । तीन स्थानों
पर बधा हुआ यह वृषभ उच्च स्वर में चिल्ला रहा है । (इस) महान् देव ने
मनुष्यों में प्रवेश किया^१ ।

(इस मन्त्र का अभिप्राय यह है) वृषभ के चार सींगों से तात्पर्य नाम, पैर
आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार प्रकार के पदों से है । भूत, भविष्यत् और
वर्तमानकाल ही इसके तीन पाद हैं । सुप् और तिङ् ये दो (इसके) दो सिर हैं ।

१. इस मन्त्र का भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है । यथा राज-
शेखर ने काव्यपुरुष के रूप में यास्क ने यज्ञपुरुष के रूप में और सायण ने
यज्ञरूपान्नि के रूप में इसके अर्थ को लिया है । पतञ्जलि के द्वारा मान्य
अर्थ उपरिलिखित है ।

इश्च । सप्त हस्तासः सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध
 उरसि कण्ठे शिरसि च वृषभो वर्षणात् कामानाम । रोरवीति रौतिः
 शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्या आविवेश । महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा
 स्यादमवेयं व्याकरणम् ।
 अथवा, चत्वारि

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

(ऋ० सं १।१६४।४५)

ये मनीषिणः मनस ईषिणो मनीषिणः । गुहायां त्रीणि निहितानि

सात विभक्तियाँ मात हाय हैं । यह उर कण्ठ और सिर तीन स्थानों पर बँधा हुआ है । इसको वृषभ इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह कामनाओं का वर्षण करता है (मन्त्र में प्रयुक्त) रौवीति क्रियारूप शब्दकर्मक 'रू' वातु से निष्पन्न है और इस प्रकार इसका अर्थ है—'जोर से चिल्लाता है' । वह (शब्दरूप) महान् देव मनुष्यों में प्रवेश कर गया । उस महान् देव (शब्द) के साथ हमारा तादात्म्य हो, इसके लिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

अथवा चत्वारि

'वाणी चार पदों तक सीमित है । उन पदों को (वे) ब्राह्मण जानते हैं, जो मनीषी हैं । तीन (भाग) गुहा में निहित हैं तथा वे चेष्टा नहीं करते । वाणी के चतुर्थ (भाग) को मनुष्य बोलते हैं' ।

'मन की इच्छा करनेवाले मनीषी कहलाते हैं । गुहा में स्थित (इसके) तीन भाग इंगित नहीं करते, अर्थात् चेष्टा नहीं करते (यहाँ तक कि वे) निमेष नहीं

नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्ति । तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । तुरीयं
ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते ।

उत त्वः

उत त्वः पश्यन्त ददर्श वाचमुत त्वः शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तत्त्वं विस्रजे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ० सं० १०।७।१४)

अपि खल्वेकः पश्यन्नापि न पश्यति । अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न
शृणोत्येनाम् अविद्वांसमाहाधम् । त्वस्मै अन्यस्मै तत्त्वं विस्रजे तनुं
विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः । यथा जाया पत्ये कामयमाना
सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं बाग् वाग्विदे स्वम् आत्मानं विवृणुते ।
वाक् स्वं नो विवृणुयात् इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

करते । वाणी के चतुर्थ भाग को मनुष्य बोलते हैं । 'मनुष्यों में वाणी का जो
भाग प्रयुक्त होता है वह वाणी का चतुर्थ भाग है' ।

उत त्वः

कोई देखता हुआ भी वाणी को देखता नहीं है, कोई इसे सुनता हुआ भी
सुनता नहीं है । किसी के लिए यह अपने शरीर को उसी प्रकार उद्घाटित कर
देती है, जिस प्रकार पति की कामना करनेवाली तथा सुन्दर वस्त्रोंवाली स्त्री
अपने शरीर को अपने पति के लिए उद्घाटित कर देती है' ।

कोई एक (इसे) देखता हुआ भी देखता नहीं है । कोई एक इसको सुनता
हुआ भी सुनता नहीं है । (ऋचा का यह) आधा भाग अविद्वान् के सम्बन्ध में
कहता है । 'त्वस्मै' अर्थात् किसी अन्य के लिए यह अपने शरीर को प्रकट कर
देती है (विस्रजे—विवृणुते) अपने पति के लिए (शरीर प्रकट कर देनेवाली)
कामना करनेवाली (तथा) सुन्दर वस्त्रोंवाली पत्नी के समान । जिस प्रकार
पत्नी पति की कामना करती हुई तथा सुन्दर वस्त्रों से युक्त हो अपने आपको
(अपने शरीर को) प्रकट कर देती है, उसी प्रकार वाणी को जाननेवाले के
लिए स्वयं को प्रकट कर देती है ।

वाणी स्वयं को हमारे लिए प्रकट करे, इसलिए हमें व्याकरण का अव्ययन
करना चाहिए ।

सक्तुमिव

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमकृत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीनिहिताधि वाचि ॥

(ऋ० सं० १०।७।२)

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति । कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति । तितउ परिवपनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा । धीरा ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमकृत वाचमकृषत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते । अत्र सखायः सख्यानि संजानते सायुज्यानि जानते । क्व ? ए एषदुर्गमो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः । के पुनस्ते ? वैयाकरणाः । कुत एतत् ?

सक्तुमिव

‘जिस प्रकार चलनी के द्वारा सत्तू पवित्र अर्थात् भूसी रहित कर दिया जाता है, उसी प्रकार जिस समय धीर अर्थात् ज्ञानी लोग अपने मन (प्रज्ञान) के द्वारा वाणी को पवित्र करते हैं, उस समय सखा लोग (पारस्परिक) सखित्व को जानते हैं, अर्थात् उसका अनुभव करते हैं । इनकी वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी निवास करती है’ ।

‘सक्तु’ शब्द ‘सच’ धातु से निष्पन्न होता है । इसको सक्तु इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह दुर्धाव अर्थात् कठिनता से घोया जा सकने वाला है । अथवा ‘कस्’ धातु के विपरीत रूप (सक्) से निष्पन्न हो सकता है । क्योंकि यह विकमित अर्थात् खिला हुआ होता है । तितउ का अर्थ चलनी है । इसे तितउ इसलिए कहते हैं कि यह फैली हुई (ततवत्) अथवा छिद्रयुक्त (तुन्नवत्) होती है । धीर अर्थात् ध्यानवाले व्यक्ति मन (प्रज्ञान) के द्वारा वाणी को खींचते हैं, अर्थात् उसका विश्लेषण कर उसे पवित्र करते हैं । यहाँ पर मित्र लोग सखित्व को जानते, अर्थात् सायुज्य का अनुभव करते हैं । सखित्व को कहाँ प्राप्त करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह जो दुर्गम और एममात्र बोधगम्य वाणी का मार्ग है वहाँ । सखित्व को जानने, वे लोग कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है— ‘वैयाकरण’ । यह क्यों होता है ? इसलिए कि इनकी वाणी में कल्याणकारिणी

भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति ।
लक्ष्मीर्लक्षणात् भासनात्परिवृद्धा भवति ।

सारस्वतीम्

याज्ञिकाः पठन्ति—‘आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां
सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्’ इति ।

प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

दशम्यां पुत्रस्य

दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमभिनि-
ष्ठान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा । कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितान्तमिति ।

लक्ष्मी विद्यमान रहती है । लक्ष्मी लक्षण अर्थात् चमक से बढ़ी हुई होती है, अर्थात्
लक्ष्मी शब्द की निष्पत्ति लक्ष धातु से होती है ।

सरस्वतीम्

याज्ञिक अर्थात् कर्मकाण्डी लोग पढ़ते हैं—‘अग्नि का आधान करनेवाले
व्यक्ति को अपशब्द का प्रयोग करने पर प्रायश्चित्त के लिए सरस्वती देवी की
इष्टि करनी चाहिए ।

हम प्रायश्चित्त करनेवाले न बनें, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन
करना चाहिए ।

दशम्यां पुत्रस्य

(कहा गया है कि) ‘पुत्र के उत्पन्न होने के दसवें दिन उसका नाम रखे,
जिसके प्रारम्भ में घोष (ग, घ आदि) वर्ण हों, जिसके मध्य में अन्तःस्थ
(य, व, र, ल) हों, जिसके अन्त में विसर्ग (अभिनिष्ठ) हो तथा जो दो
अक्षरों अथवा चार अक्षरों का हो । नाम कृदन्त रखना चाहिए तद्धितान्त नहीं’ ।

व्याकरण के अभाव में कृत् अथवा तद्धित नहीं जाने जा सकते, इसलिए
व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् । तस्माद-
ध्येयं व्याकरणम् ।

सुदेवो असि

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।

अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्यं सुषिरामिव ॥ (ऋ० सं० ८।६९।१२)

सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः । काकुजिह्वा । सास्मिन् विद्यते इति
काकुदं तालु । सूर्यः स्थूला लोहप्रतिमेति ।

एवं 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादिवार्तिकोक्तान्यत्रापि प्रयोजनान्यनु-
संधेयानि ।

सुदेवो असि

'जिस प्रकार सूर्य अर्थात् लौह प्रतिमा' के छिद्र (सुषिर) में अग्नि प्रज्ज्व-
लित होती है, उसी प्रकार जिस प्रकार आपके तालु प्रदेश में सप्तसिन्धु रूप सात
विभक्तियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, वह तुम, हे वरुण ! सुदेव हो ।'

मन्त्र के, 'सप्त सिन्धवः' का अर्थ है सात विभक्तियाँ । काकुत् का अर्थ है
जिह्वा । वह काकुत् जिसमें रहती है उसे कहते हैं 'काकुद' अर्थात् तालु (मुखगह्वर
में ओष्ठ से लेकर कण्ठ तक का उपरितन प्रदेश) । सूर्य का अर्थ है स्थूल
लौहप्रतिमा ।

इसी प्रकार 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादि वार्तिकों में कहे गए (उक्त से
भिन्न) प्रयोजनों का यहाँ भी अनुसन्धान कर लेना चाहिए ।

निरुक्त और उसका प्रयोजन

अब 'निरुक्त' का प्रयोजन बतलाते हैं । अर्थ के ज्ञान के सम्बन्ध में
(व्याकरणादि शास्त्रों से सर्वथा) निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र रूप में पदों को जिसमें
कहा गया है (अर्थात् जिसमें कहे गए पद अन्य शास्त्रों की सहायता के बिना
ही अपने अर्थ का बोध कराते हैं) उसे 'निरुक्त' कहते हैं । (उदाहरण के

१. व्याकरण के इस प्रसंग में 'पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि'— से लेकर 'लौह
प्रतिमा' तक का यह समस्त अंश 'महाभाष्य के पस्पशाह्निक से अक्षरशः
उद्धृत है ।

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते । अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् । 'गौः ग्मा ज्या क्षमा क्षा क्षमा' इत्यारभ्य 'वसवः वाजिनः देवपत्न्यो देवपत्न्यः' इत्यन्तो यः पदानां समास्नायः समास्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते । एतावन्ति हिरण्यनामानि इत्येवं तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात् । तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम् । तच्चानुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

‘आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नंगमं तथा ।

तृतीयं दैवतं चेति समास्नायस्त्रिधा स्थितः ॥

गौराद्यपारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम् ।

जहाद्युल्बमृबीसान्तं नैगमं संप्रचक्षते ॥

लिए) 'गौः, ग्मा, ज्या, क्षमा, क्षा, क्षमा' इनसे प्रारम्भ करके 'वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यो देवपत्न्यः' यहाँ तक पदों का जो समास्नाय कहा गया है उस (पदों के समास्नाय रूप) ग्रन्थ में पदों के अर्थबोध के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं है । क्योंकि 'पृथिवी के इतने नाम हैं' 'सोने के इतने नाम हैं' यह बात स्थान-स्थान पर स्पष्ट कर दी गई है ।

यह 'निरुक्त' की तीन काण्ड हैं । यह बात 'अनुक्रमणिकाभाष्य' में इस प्रकार बताई गई है—

‘पहला काण्ड 'नैघण्टुक' है, दूसरा काण्ड 'नैगम' है तथा तीसरा काण्ड 'दैवत' है, इस प्रकार समास्नाय तीन (काण्डों के) रूपों में स्थित है । 'गौ' से लेकर 'अपार' शब्द का पहला 'नैघण्टुक' काण्ड माना जाता है, 'जहा' से लेकर 'देवपत्नी' तक 'दैवत' काण्ड कहा जाता है (इस अन्तिम काण्ड के अन्तर्गत)

१. ऊपर 'निरुक्त' की जो परिभाषा दी गई है वह 'निरुक्त' की न होकर उसके आधार ग्रन्थ 'निघण्टु' की है । परिभाषा के विवेचन से भी यह स्पष्ट है ।

अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते ।
 अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगणो गणः॥
 वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः ।
 सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति ।
 गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमभिधीयते' ॥ इति ॥

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां संघो यत्र प्रायेणोपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः । तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात् । एवमत्रापि पर्यायशब्दसंघोपदेशादा-
 च्चकाण्डस्य नैघण्टुकत्वम् । तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः । तेषु प्रथमे

‘अग्नि’ से ‘देवी अर्जाहूती’ तक के देवताओं का समूह पृथिवीस्थानीय है, ‘वायु’ से लेकर ‘भग’ तक के देवता अन्तरिक्ष स्थानीय हैं तथा ‘सूर्य’ से लेकर ‘देवपत्नी’ तक के देवता द्युस्थानीय हैं । ‘गौः’ से लेकर ‘देवपत्नी’ तक के समस्त पदसमूह को समाम्नाय कहा जाता है” ।

जिसमें प्रायः एकार्थ वाचक पर्यायशब्दों के समूह का उपदेश दिया गया है, उस (अव्याय या ग्रन्थ) के ‘निघण्टुक’ शब्द प्रसिद्ध हैं । क्योंकि उस प्रकार के अमरसिंह, वैजयन्ती और हलायुध आदि (कोशग्रन्थों) के लिए ही ‘दश निघण्टु है’ इस प्रकार का व्यवहार पाया जाता है । इसी प्रकार यहाँ पर भी पर्यायवाचक शब्दों के समूह के उपदेश के कारण (निरुक्त के) प्रथम काण्ड को ‘नैघण्टुक’ कहते हैं । उस काण्ड में तीन अध्याय हैं । उनमें से पहले में पृथ्वी

पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि । द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि । तृतीये तदुभयद्रव्यगतबहुत्वह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि ।

निगमशब्दो वेदवाची । यास्केन तत्र तत्र 'अपि निगमो भवति' इत्येवं वेदवाक्यानामवतारितत्वात् । तस्मिन्निगम एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम् ।

पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम् ।

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मक एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतयापदजातस्योक्तत्वात्तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् । तद्व्याख्यानं च 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' इत्यन्तैर्द्वा-

आदि लोक तथा दिक् और काल आदि द्रव्यों से सम्बद्ध शब्द हैं । दूसरे में मनुष्य तथा अवयव आदि द्रव्यों के वाचक शब्द हैं । तीसरे में (उक्त) दोनों ही प्रकार के द्रव्यों के बहुत्व और ह्रस्वत्व आदि धर्मों से सम्बद्ध शब्द हैं ।

निगम शब्द वेद का वाचक है । क्योंकि यास्क ने उन-उन स्थलों पर 'अपि निगमो भवति' (वेद भी हैं), ऐसा कहकर वेद के वाक्यों को उद्धृत किया है । उस निगम, अर्थात् में ही प्रायः वर्तमान शब्दों के चतुर्थ अध्याय रूप द्वितीय काण्ड में उपदिष्ट होने के कारण उस काण्ड को 'नैगम' कहते हैं ।

पञ्चम अध्याय रूप तृतीय काण्ड दैवत होना स्पष्ट है । (क्योंकि उसमें देवता वाचक शब्दों का संकलन किया गया है, इसलिए उसका नाम दैवतकाण्ड है) ।

पञ्चाध्याय रूप तीन काण्डोंवाले इस ग्रन्थ में दूसरे शास्त्रों से निरपेक्ष रूप से पदों के कहे जाने के कारण उस ग्रन्थ को (पूर्वोक्त परिभाषा के आधार पर) निरुक्त कहा जाता है । और उसकी व्याख्या 'समाम्नायः समाम्नातः' यहाँ से लेकर 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' यहाँ तक के बारह अध्यायों में

दश भिरध्यायैयस्को निर्ममे । तदापि निरुक्तमित्युच्यते, एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः । तत्र हि 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' इति प्रतिज्ञाय 'उच्चावचैव्यर्थेषु निपतन्ति' इति निपातस्वरूपं निरुच्यैवमुदाहृतम् 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं नेन्द्रं देवमंसत इति प्रतिषेधार्थीयः इति; 'दुर्मदासो न सुरायामित्युपमार्थीयः' (निरुक्त १।१।४) इति च । तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थोदाहरणमस्मिन् ग्रन्थेऽवगम्यते । एवं ग्रन्थकोरेणोक्ताः तत्तत्पदनिर्वचनविशेषाः तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसरे एवास्माभिरुदाहरिष्यन्ते । न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम् । एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव

यास्क ने लिखो है । उस (व्याख्या) को भी 'निरुक्त' कहा जाता है उसमें एक-एक पद के (सभी) संभावित अवयवों और उनके अर्थों (अथवा अवयवार्थों) का निःशेष रूप से कथन किया गया है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसे निरुक्त (निः + उक्त) कहते हैं । उस निरुक्त में 'चार पदसमूह होते हैं—नाम, अख्यात, उपसर्ग और निपात ऐसी प्रतिज्ञा करने के पश्चात् 'ऊँचे-नीचे (अच्छे-बुरे) अर्थों में निपतित होते हैं, इस रूप में निपात के स्वरूप का निर्वचन करके उसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—'न' यह निपात बोलचाल की भाषा में प्रतिषेध अर्थ को देता है, जबकि अन्वध्याय अर्थात् वैदिक भाषा में निषेध और उपमा इन दोनों अर्थों का देता है । 'नेन्द्रं देवमंसत' (इन्द्र को देवता नहीं समझा) इस वाक्य में 'न' निषेध के अर्थ में है किन्तु 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (शराब में बुरी तरह से मतवालों के समान) उपमा के अर्थ में । इस प्रकार लोक में केवल प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले भी नकार का वेद में प्रतिषेध और उपमा इन दोनों अर्थों का यह उदाहरण इस ग्रन्थ में (ग्रन्थ से) ज्ञात होता है । इस प्रकार ग्रन्थकार (यास्क) के द्वारा कहे गए उन-उन पदों के निर्वचन-विशेषों को हम उन-उन मन्त्रों की व्याख्या के अवसर पर ही उदाहृत करेंगे । यास्क के निर्वचन निर्मूल हैं (अर्थात् उनके निर्वचनों का कोई आधार नहीं है) । ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि इस (अर्थ) की व्युत्पत्ति के लिए ब्राह्मण

ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषांचिदुक्तत्वात्—‘तदाहुतीनामाहुतित्वम्’ (ऐत० ब्रा० १।१।२) इति, तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते’ (ऐत० ब्रा० २।४।३) इति, ‘यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्’ (तै० ब्रा० १।१।३।६-७) इति च । ग्रन्थकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूत-ब्राह्मणानि उदाहरिष्यति । केषांचिन्निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिरस्ति । अत एव ग्रन्थकार आह—‘तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यम् स्वार्थसाधकं च (निरुक्त १।१५) इति । तस्मात् वेदार्थविबोधायोपयुक्तम् ।

तथा छन्दोग्रन्थोऽप्युपयुज्यते, छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात् । ‘तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते’ (तै० ब्रा० १।५।१२।१) इति ह्यास्नातम् । गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्ज-गतीत्येतानि सप्त छन्दांसि । चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री । ततोऽपि चतुर्भि-
स्क्षणरैरधिकाष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् । एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबाद-

ग्रन्थों में कुछ पदों का निर्वचन किया गया है, ‘तदाहुतीनाम् आहुतित्वम्’ ‘तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते’ और ‘यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्’ इन उदाहरणों में आहुति, इन्द्र और पृथिवी शब्द के निर्वचन । ग्रन्थकार भी उन-उन स्थलों पर अपने द्वारा कहे गए निर्वचनों के मूलभूत ब्राह्मण वाक्यों को उद्धृत करता है । इन निर्वचनों में कुछ की सिद्धि व्याकरण के बलपर हो जाने पर भी कभी भी सिद्धि (व्याकरण के द्वारा) नहीं होती है । इसीलिए ग्रन्थकार ने कहा है—‘यह निरुक्त (नामक) विद्यास्थान व्याकरण की पूर्णता और (वेदार्थ का बोध रूप) स्वप्रयोजन को सिद्ध करनेवाला है’ । इसलिए वेद के अर्थ के बोध के लिए निरुक्त की उपयोगिता है ।

छन्द और उसका प्रयोजन

छन्दोग्रन्थ का भी उसी प्रकार (निरुक्त के समान) उपयोग है, क्योंकि वेद के उन-उन स्थलों पर छन्दविशेषों का विधान किया गया है । जैसे—‘तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते’ (इसलिए क्रमशः चार-चार अधिक अक्षरों वाले सात छन्द प्रातरनुवाके यज्ञ में उच्चरित किए जाने चाहिए) ऐसा कहा गया है । गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जागती ये सात छन्द हैं । (इनमें से) गायत्री चौबीस अक्षरों की होती है । उससे भी चार अक्षरों से अधिक अर्थात् अट्ठाइस अक्षरों का उष्णिक् छन्द होता है । इसी प्रकार अनुष्टुप् आदि को (चार-चार अक्षरों से) उत्तरोत्तर अधिक समझना चाहिए ।

योऽवगन्तव्याः । तथान्यत्रापि श्रूयते—‘गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात् । त्रिष्टुभ्यो राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य’ (तै० ब्रा० १।१।९।६-७) इति । तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः । किंच ‘यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणु वच्छति गतं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति । तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यात्’ (का० अ० १।१) इति श्रूयते । तस्मात् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते ।

ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्—‘यज्ञकालार्थसिद्धये’ (वेदाङ्गज्योतिष ३) इति । कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते । ‘संवत्सर-मेतद् व्रतं चरेत्’ (तै० आ० १।३।२१), ‘संवत्सरमुख्यं भृत्वा’ (तै० सं० ५।६।५।१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः । ‘वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नि-

इसी प्रकार अन्यत्र (तैत्तिरीय ब्राह्मण) में भी कहा गया है—‘गायत्री छन्दवाले मन्त्रों से ब्राह्मण के लिए (अग्नि) का आधान करे, त्रिष्टुप् छन्दवाले मन्त्रों से सत्रिय के लिए आधान करे’ । मगण (त्रिगुहः ३३३) और यगण (आदि लघुः १३३) आदि के द्वारा साध्य गायत्री आदि छन्दों का यह विचार छन्दोग्रन्थ के अभाव में अच्छी प्रकार से जाना नहीं जा सकता । इसके अतिरिक्त यह भी सुनाई पड़ता है । (कहा गया है—‘जो अज्ञात ऋषि, छन्द देवता और ब्राह्मणवाले मन्त्र के द्वारा यज्ञ कराता है अथवा अध्ययन करता है, वह ठूँठ हो जाता है अथवा गड्ढे में गिरता है अथवा विनाश को प्राप्त होता है अथवा अत्यन्त पापी हो जाता है’ । इसलिए उस वेद के ज्ञान के लिए छन्दोग्रन्थ का उपयोग है ।

ज्योतिष और उसका प्रयोजन

ज्योतिष का प्रयोजन उसी ग्रन्थ (वेदाङ्ग ज्योतिष) में (इस प्रकार) विहित किया गया है—‘यज्ञकालार्थसिद्धये’ (यज्ञ के कालरूप अर्थ की सिद्धि के लिए । कालविशेष की विधियाँ भी सुनाई पड़ती हैं—‘संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्’ (इस व्रत को संवत्सर भर करे) ‘संवत्सरमुख्यं भृत्वा’ (संवत्सर भर अग्नि को पात्र में) भरकर इत्यादि संवत्सर विधियाँ हैं । ‘वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत्’

आदधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६-७) इत्याद्या ऋतुविधयः 'मासि मासि पृष्ठान्युपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' (तै० सं० ७।५।१५) इत्याद्या मासविधयः । 'यं कामयेत् वसीयान्त्स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (तै० सं० २।२।३।१) इत्याद्याः पक्षविधयः । 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्', 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं० ७।४।८।१) इत्याद्यास्थितिविधयः । 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' इत्याद्याः प्रातःकालविधयः । कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्याद्या नक्षत्रविधयः । अतः कालविशेषान् अवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते ।

(वसन्त में ब्राह्मण अग्न्याधान करे) 'ग्रीष्मे राजन्य आदधीत' (ग्रीष्म में राजन्य अर्थात् क्षत्रिय अग्न्याधान करे) इत्यादि ऋतुविधियाँ हैं । 'मासि मासि पृष्ठान्युपयन्ति' (महीने में पृष्ठ प्राप्त होते हैं) 'मासि मासि अतिग्राह्याः गृह्यन्ते' (महीने-महीने में अतिग्रह ग्रहण किए जाते हैं) इत्यादि मासविधियाँ हैं । 'यं कामयेत् वसीयान्त्स्यादिति तं पूर्वपक्ष (पहले पक्ष) में यज्ञ करावे' इत्यादि पक्षविधियाँ हैं । 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' (एकाष्टका में दीक्षा ग्रहण करें) 'फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (फाल्गुनी नक्षत्रवाली पूर्णिमा को दीक्षा ले) इत्यादि तिथिविधियाँ हैं । 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' (प्रातः हवन करता है) इत्यादि प्रातः कालादि-विधियाँ हैं । 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (कृत्तिका नक्षत्र में अग्नि का आधान करे) इत्यादि नक्षत्रविधियाँ हैं । इस प्रकार कालविशेषों के बोध के लिए ज्योतिष का उपयोग है ।

एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेव-
मुदीरितम्—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रीत्रमुच्यते ॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

(पा० शि० ४१-४२) इति ।

षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते —

‘पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश’ ॥

(या० स्मृ० १।३) इति

वेदार्थ का उपकार करनेवाले इन छहों ग्रन्थों के वेदाङ्ग होने के सम्बन्ध में पाणिनीय शिक्षा में ही इस प्रकार कहा है—

‘छन्द वेद के चरण हैं, कला हाथ है, ज्योतिष नेत्र है, निरुक्त कान कहा जाता है । शिक्षा वेद की नासिका है, व्याकरण मुख माना गया है । इसलिए (व्यक्ति) अङ्ग सहित (वेद) का अध्ययन करके ही ब्रह्मलोक में पूजा प्राप्त करता है ।

पुराण आदि का स्वरूप तथा प्रयोजन

याज्ञवल्क्य षडङ्ग के समान पुराण आदि की भी वेदार्थज्ञान से उपयोगिता को स्मरण करते हैं—

‘पुराण न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह अङ्ग तथा (चार वेद) ये विद्याओं तथा धर्म के चौदह स्थान हैं’ ।

‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥

इत्यन्यत्रापि स्मर्यते । ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरि-
श्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि धर्मब्राह्मवबोधोद्युक्तानि तेषु तेष्वितिहास-
ग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि । उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्म-
वैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः ।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षम् ॥

इति सृष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात् । न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेय-
संशय प्रयोजनदृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात् । तदनुसारेण-
इदं वाक्यमस्मिन्नर्थे प्रमाणं भवति, नेतरदिति निर्णयः कर्तुं शक्यते ।
पूर्वोत्तर-मीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव । मन्वत्रिविष्णुहारीतादि-

इतिहास और पुराण के द्वारा वेद को उपबृंहित (पूर्ण) करना चाहिए ।
अल्पश्रुत (स्वल्प ज्ञानवाले) व्यक्ति से, वेद, यह समझकर कि कहीं यह मुझ
पर चोट न करे, डरता है ।

ऐसा अन्यत्र भी कहा गया है । ऐतरेय, तैत्तिरीय और काठक आदि शाखाओं
में कहे गए हरिश्चन्द्र और नाचिकेतस् आदि के उपाख्यान, जो कि धर्मज्ञान और
ब्राह्मज्ञान के उपयोगी हैं, इतिहास के उन-उन ग्रन्थों में स्पष्ट किए गए हैं ।
उपनिषदों में बतलाए गए सृष्टि, पालन और प्रलय आदि को ब्रह्मपुराण, पद्म-
पुराण तथा विष्णुपुराण आदि पुराण ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है ।

‘सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित वे पांच पुराण के लक्षण
हैं’ । इसके अनुसार सृष्टि आदि पुराण के प्रतिपाद्य विषय हैं, ऐसा ज्ञात है ।
न्यायशास्त्र में प्रमाण, प्रमेय, संशय प्रयोजन और दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थों
का निर्णय किया गया है इसलिए उसके अनुसार ‘यह वाक्य इस अर्थ में प्रमाण
हो सकता है, अन्य नहीं’ यह निर्णय किया जा सकता है । पूर्वमीमांसा और उत्तर
मीमांसा (वेदान्तशास्त्र) वेदार्थ में उपयोगिता अत्यन्त स्पष्ट ही है । मनु, अत्रि;

प्रोक्तासु स्मृतिषु वेदावतसंध्यावन्दनादिविधयः प्रपञ्चिताः 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः संध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तै० आ० २।२) इत्यादिकः संध्यावन्दनविधिः । 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तै० आ० २।१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः । एवं विध्यन्तरणि द्रष्टव्यानि । उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगात् विद्यास्थानत्वं युक्तम् । एतैः पुराणादिभिः चतुर्दशभिर्विद्यास्थानैरुपवृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारिविशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः । तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार (निरुक्त २।४) ।

तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—

विष्णु और हारित् आदि के द्वारा प्रोक्त स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) में वेद में कही गई सन्ध्यावन्दन आदि की विधियों का प्रयश्चित किया गया है । जैसे—'तदुह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (पूर्व की ओर मुंह किये हुए थे ब्रह्मवादी लोग सन्ध्या के समय गायत्री से अभिमन्त्रित जल को ऊपर की ओर फेंक रहें हैं) इत्यादि सन्ध्यावन्दन विधि है । 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (ये पाँच महायज्ञ सदैव किये जाते हैं) महायज्ञ विधि है । इसी प्रकार अन्य विधियों को भी देखना चाहिए । उक्त प्रकार से वेदार्थ के ज्ञान में उपयोगी होने के कारण पुराण आदि का विद्या स्थान होना उचित ही है । इन पुराण आदि चौदह विद्यास्थानों के द्वारा उपवृंहित (पूर्ण बनाई गई) विद्या को ग्रहण करनेवाले विशिष्ट अधिकारी का निर्देश अन्य शाखा के चार मन्त्रों के द्वारा किया गया है । और उन मन्त्रों को यास्क ने उदाहृत किया है उनमें से पहला मन्त्र यह है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

विद्याभिमानीनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम । आगत्य
एवं प्रार्थयामास । हे ब्राह्मण, मासनाधिकारिणोऽनुपदिश्य पालय ॥ तवाहं
निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि । तादृश्यां मयि तदुपदेष्टारि त्वयि च योऽ-
सूयां करोति । यश्चार्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति योऽपि स्नानाचमनाद्या-

पहला मन्त्र

‘विद्या ब्राह्मण के पास आई (और बोली कि तू) मेरी रक्षा कर, मैं तेरी
निधि हूँ । तू मुझे दूसरों में दोष दिखानेवाले कुटिल, तथा असंयमी के लिए मत
कह । ऐसा होने पर मैं (तेरे लिए) वीर्यवती हो जाऊँगी’^१ ।

(इसका आशय यह है) विद्या की अभिमानीनी देवता ब्राह्मण अर्थात्
उपदेश प्रदान करनेवाले आचार्य के पास आई । आकर इस प्रकार प्रार्थना की—
‘हे ब्राह्मण, अनाधिकारी के लिए मेरा उपदेश न करके मेरी रक्षा कर । मैं निधि
के समान तेरे पुरुषार्थ की हेतु हूँ । इस प्रकार की मुझसे तथा मेरा उपदेश देने
वाले तुझसे जो असूया करता है, और जो ऋजुता (सरलता) के साथ विद्या-
भ्यास नहीं करता तथा जो स्नान और आचमन आदि आचार में नियत नहीं
होता, वैसे शिष्यभासों (शिष्य के समान केवल प्रतीत होनेवाले वास्तव में

१. इस मन्त्र के भाव की अभिव्यक्ति मनुस्मृति में दस प्रकार हुई है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।

असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥

(म० स्मृ० २।११४)

चार नियतो न भवति । तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः । तथा सति त्वद्हृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम् ।

अथ द्वितीयो मन्त्रः—

य आतृणत्यवितथेन कर्णविदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।

तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥ इति ॥

पूर्वस्मिन् मन्त्रे अचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते । वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम् । तद्विपरीतं सत्यं वेदवाक्यमवितथम् । तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णो आतृणति सर्वतस्तर्दनं पूरणं करोति । उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणात्ति-धातोरर्थान्तरे वृत्तिः । सर्वदा वेदं यः श्रावयति इत्यर्थः किं । कुर्वन् ?

अशिष्यो) के लिए मेरा उपदेश न कर । ऐसा होने पर मैं तेरे हृदय में स्थित होकर फल देने वाली होऊँगी ।

दूसरा मन्त्र

‘अमृत प्रदान करता हुआ तथा दुःख न देता हुआ जो गुरु सत्य के द्वारा कानों को परिपूर्ण कर देता है, उसे अपना पिता और माता मानना चाहिए तथा उससे कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए’ ।

पहले मन्त्र में आचार्य के लिए नियम बतलाकर इस मन्त्र में शिष्य के लिए नियम कहते हैं; ‘वितथ’ का अर्थ है अनृत अर्थात् अपुरुषार्थभूत लौकिक वाक्य । उससे भिन्न जो सत्यरूप वेदवाक्य है, वह अवितथ है । इस प्रकार के वाक्य के द्वारा जो गुरु, शिष्य के कानों को आतवति अर्थात् पूर्णरूप से भर देता है । उपसर्ग और औचित्य के कारण तृणात्ति इस क्रिया का दूसरे अर्थ में वृत्ति हुई है । कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि ‘तृणात्ति’ क्रिया का अर्थ दुःख देना या हिंसा करना है, किन्तु यहाँ उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया है । इस परिवर्तन के दो कारण हैं, एक तो उपसर्ग ‘आ’ और दूसरा औचित्य । ‘कानों को दुःख देता है’ यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता, जबकि ‘कानों को भर देता है’ यह प्रसंग के अनुकूल है । यहाँ औचित्य है । इसका अर्थ है—जो सर्वदा वेद को सुनाता

ऋग्वेद भाष्य भूमिका]

अदुःखं कुर्वन् । मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदौ अर्घर्चमृचं वा ग्रहीतुम-
शक्तस्य यथादुःखं न भवति तथा पादं पादैकदेशं वा ग्राहयन् किंच अमृतं
संप्रयच्छन् । अमृतत्वस्य देवजन्मनो मोक्षस्य वा प्रापकत्वादमृतं वेदार्थः ।
तस्य प्रदानं कुर्वन् । तं तादृशमाचार्यं सच्छिष्यो मुख्यमातापितृरूपं
मन्येत । पूर्वसिद्धौ तु मातापितरौ अधमस्य मनुष्यशरीरस्य प्रदानाद-
मुख्यौ । तस्मै मुख्यमातापितृरूपाचार्यायैकमपि द्रोहं न कुर्यात् ।

अथ तृतीयो मन्त्रः—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।

यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ इति ॥

है । क्या करता हुआ ? दुःख न देता हुआ । अर्थात् मन्दबुद्धि वाले, अतएव प्रारम्भ
में आधी ऋचा अथवा (पूरी) ऋचा को ग्रहण करने में असमर्थ माणवक
(बालक) को जिस प्रकार दुःख न हो उस प्रकार एक पाय अथवा पाद के
एक देश को ग्रहण करता हुआ । और अमृत देता हुआ । अमृतत्व अथवा देवताओं
से जन्य (मिलने वाले) मोक्ष का प्रापक होने के कारण वेदार्थ अमृत है । उसका
दान करता हुआ, यह अर्थ है । इस प्रकार के आचार्य को श्रेष्ठ शिष्य को अपने
मुख्य माता और पिता के रूप में मानना चाहिए । पूर्व सिद्ध अर्थात् गुरु से पहले
वर्तमान माता और पिता अधम शरीर को देने के कारण अमुख्य माता और पिता
के रूपवाले आचार्य के प्रति एक भी द्रोह नहीं करना चाहिए ।

तीसरा मन्त्र

पाढ़ाए गए जो ब्राह्मण वाणी, मन अथवा कर्म के द्वारा अपने गुरु का आदर
नहीं करते उनका श्रुत (पठित शास्त्र) उनका वैसे ही पालन नहीं करता, जैसे
वे (अनादर करनेवाले छात्र) गुरु के पालनीय नहीं होते ।

ये तु अधमा विप्रा गुरुणाध्यापिताः सन्तो विनयोक्स्या तदीयहित-
चिन्तनेन शुश्रूषया वा गुरुं नाद्रिन्त आदररहितास्ते शिष्याभासा गुरोर्न
भोजनीयाः अनुभवयोग्य न भवन्ति । न हि तेषु गुरुः कृपां करोति ।
यथैव गुरुणा ते न पालनीयास्तथैव तानधमान् शिष्यान् तत् श्रुतं गुरुरपि
दिष्टं वेदवाक्यं न पलायति, फलप्रदं न भवतीत्यर्थः ।

अथ चतुर्थो मन्त्रः—

यमेव विद्याः शुचिप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति ॥

जो अधम ब्राह्मण गुरु के द्वारा पढ़ाए गए जाकर विनयपूर्ण उक्ति, गुरु के
हित की चिन्ता अथवा सुश्रूषा की भावना से गुरु का आदर रहित शिष्याभास
(नकली शिष्य गुरु के भोजनीय अर्थात् अनुभव के योग्य नहीं होते । गुरु उन पर
कृपा नहीं करता । जिस प्रकार वे गुरु के द्वारा पालनीय नहीं होते, उसी प्रकार
उन अधम शिष्यों का वह श्रुत अर्थात् गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदवाक्य पालन
नहीं करता । तात्पर्य यह कि वह फलप्रद नहीं होता)।

चौथा मन्त्र

‘हे ब्रह्मन् ! तु म जिसको पवित्र, अप्रमत्त, मेधावी और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न
समझने हो, जो तुमसे कभी-भी द्रोह नहीं करता, उस, निधि की रक्षा करनेवाले
(शिष्य) के लिए मुझे कहो’ ।

हे आचार्य, यमेव मुख्यशिष्यं शुचित्वादिगुणोपेतं जानीयाः किंच यो मुख्यशिष्यस्तुभ्यं कदाचिदपि न ब्रूहेत् । तस्मै तु मुख्यशिष्याय त्वदीयनिधिपालकाय ब्रह्मन् वेदरूपां मां विद्यां ब्रूयाः ।

इत्थं विद्यादेवतया प्रार्थितत्वादाचार्येण मुख्यशिष्याय वेदविद्योपदेष्टव्या । तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते ।

हे आचार्य ! तुम जिस मुख्य शिष्य को शुचित्व आदि गुणों से युक्त समझते हो तथा जो मुख्यशिष्य तुमसे कभी भी द्रोह न करता हो, उस, तुम्हारी (विद्या) निधि का पालन करनेवाले मुख्य शिष्य के लिए हे ब्रह्मन्, मुझ वेदरूपा विद्या को कहो^१ ।

इस प्रकार विद्यादेवता के द्वारा (मुख्य शिष्य के) प्रार्थित होने के कारण आचार्य को (अपनी) वेदविद्या का उपदेश मुख्य शिष्य के लिए करना चाहिए । उस (मुख्यशिष्य) के लिए मैं, छह अङ्गों के अनुसार ऋग्वेद की व्याख्या कर रहा हूँ ।

चतुर्लोकवियद्बाहो (२०३४) विक्रमान्देऽद्य कार्तिके ।

शनौ शुक्लाद्वितीयायां व्याख्या सैषा समापिता ॥

अनया यदिविद्यार्थिवृन्दं सम्मोदमाप्स्यति ।

तदैवास्ति कृतार्थत्वं व्याख्यातुर्नात्र संशयः ॥

१. इसी भाव को को मनु ने इन शब्दों में व्यक्त किया है ।

‘यमेव तु शुचि विद्यानियतं ब्रह्मचारिणम् ।

तस्मै मां ब्रूहि शिष्याय निधिपाय प्रमादिने ॥

(म० स्मृ०, २।११५)

